श्रेय

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'

भारतीय साहित्यकार संघ की मुख पत्रिका

संयुक्तांक १–२, वर्ष २

चैत्र–आषाढ़ २०२८ विक्रमी

संपादक :

डॉ० रामदत्त भारद्वाज • मोहनलाल श्रीवास्तव

आवश्यक सूचना

आचार्य अमृतवाग्भव के आदेशानुसार "श्रेय" का आगामी अंक "भारतीय साहित्यकार संघ का इतिहास" होगा। इसमें सामग्री और पृष्ठ संख्या अधिक होगी इस कारण अंक प्रकाशन में कुछ विलम्ब सम्भव है।

●

श्रेय पत्रिका का प्रकाशन अब केन्द्रीय कार्यालय, ५१/१, न्यू मार्केट, निकट लिबर्टी सिनेमा, नई दिल्ली-५ से होगा। अतएव पाठक तथा ग्राहक इसे ध्यान में रखें।

●●

केन्द्रीय कार्य समिति तथा साहित्यकार संघ की साधारण सभा के निर्देशानुसार स्थानीय शाखाओं का स्वरूप केन्द्रित कर दिया गया है। अतएव सम्बन्धित सदस्य अपना वार्षिक शुल्क दस रुपया १९७०-७१ तथा ७२ का कार्यालय में दिनांक ३० सितम्बर सन् ७१ तक भेजकर सदस्यता प्रमाण-पत्र प्राप्त करलें। इसके अभाव में सदस्यता का अधिकार प्राप्त नहीं होगा।

कार्यालय-प्रमुख

एक प्रति 3-00
वार्षिक 9-00

आचार्य अमृतवाग्भव

भारतीय साहित्यकार संघ के वर्तमान अध्यक्ष



सौन्दर्यं साहितीनां जगति भरतभूनिर्मितानां नितान्तं ।
भूयात् सञ्चारयन्ती प्रयतमतिरियं पत्रिका विश्ववन्द्या ॥
पन्थानं दर्शयन्ती स्वरसमधुरिमापूरितं श्रेयसः स्वं ।
श्रेयोनाम्ना प्रसिद्धा गमयतु सुयशःसाहितीकारसङ्घम् ॥

सम्पादकीय

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना ।
सिर धुन गिरा लागि पछताना ।।

मानस चतुश्शती के संदर्भ में भारतीय लेखक तथा साहित्यकार यदि गोस्वामी तुलसीदास के उक्त कथन को ध्यान में रखें तो स्वतन्त्र तथा प्रबुद्ध चिन्तन के लिए मार्ग स्वत: प्रशस्त होता रहेगा। गोस्वामी जी के युग में तथा ग्राज भी मानवीय एषणाए समान हैं। उस समय राजतन्त्र था ग्रौर राजा की इच्छा ही शासन का मूलमन्त्र थी। ग्राज भी नेतृ वर्ग की इच्छा के लिए स्वदेश, स्वधर्म ग्रौर स्वत्व की उपेक्षा की जाती है। लोग ग्रपने स्वार्थ के लिए ग्रौचित्य का निरादर कर रहे हैं। इस युग के साहित्यकारों में भी ऐसे लोग हैं जो ग्रपनी ग्रात्मविज्ञप्ति, ग्राथिक उन्नति ग्रौर ग्राकांक्षा की पूर्ति के लिए ग्रनेक प्रकार की चाटुकारिता करते ग्रौर कपटपूर्ण नीति का मार्ग ग्रपनाते हैं। ऐसी ग्रवस्था में साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों को गुट्ट-निरपेक्षता का उपदेश निष्फल होगा क्योंकि उपदेशकों का स्वयं किसी सांस्कृतिक ग्रथवा राजनीतिक दल विशेष में सम्बन्ध है। ग्राज का बौद्धिक जगत् ग्रात्म-कुंठित है। कारण स्पष्ट है कि उसे गोस्वामी तुलसीदास जैसा उदात्त-चिन्तक, तत्त्वान्वेषी कवि, ऋषि तथा सुधारक नहीं मिला। यदि वास्तव में भारतीय चिन्तन ग्रौर संस्कृति की धारा को ग्रक्षुण्ण रखना है तो हमें ग्रपने जीवन में ग्रनासक्ति, कर्त्तव्य-निष्ठा ग्रौर ग्रौचित्यपूर्ण ग्रभिव्यक्ति की साधना को स्थान देना होगा। केवल "पर उपदेश" से सिद्धि नहीं होगी। सत्य की उपासना प्रत्येक स्थिति में हृदय से होनी चाहिए। विशेष रूप से यह बात बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ग्रौर भी महनीय तथा ग्रनुकरणीय है। साहित्य किसी जाति ग्रौर देश की ग्रात्मा है जो ग्रभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का ग्रौचित्य मानता है।

× × × ×

"पाकिस्तान के लिए जासूसी करने के ग्रपराध में जो व्यक्ति गिरफ्तार किए उनमें भूतपूर्व मंत्री, संसत्सदस्य तथा पत्रकार तक शामिल थे। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि राष्ट्रद्रोह के रोग ने गंभीर रूप धारण कर लिया है ग्रौर इससे राष्ट्र की सुरक्षा भी खतरे में पड़ गई है।"

भारतीय साहित्यकार संघ की कार्यसमिति ने इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास कर कहा है कि इस प्रकार की राष्ट्रद्रोहात्मक प्रवृत्तियों में मूल कारण केवल धन आदि का प्रलोभन ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा का अभाव भी होता है। इसलिए राष्ट्रद्रोह के अपराधियों के लिए जहां सरकार को कड़े से कड़े दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिए, वहां प्रत्येक सरकारी पदाधिकारी, विधायक और संसत्सदस्य के लिए यह भी आवश्यक होना चाहिए कि वह संविधान के प्रति निष्ठा के साथ-साथ भारत के प्रति निष्ठा की भी शपथ ग्रहण करे। भारत के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहण करने से राष्ट्रद्रोह की प्रवृत्ति को रोकने का कम से कम नैतिक आधार तो प्राप्त हो जाएगा।

अन्तर्वस्तु

पर-तत्त्वम्

★ डा० कृष्णदत्त भारद्वाज

अयि गुरुवर, किं तावत् परं तत्त्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपादितमिति जिज्ञासमानं प्रियमन्तेवासिनं देशिकस्तत्तत्त्वं शान्तेन मनसाऽनया दिशा प्रब्रूते—

यःखलु जगदात्मा प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकामचेतनां नित्यं पिपर्त्ति तदन्तरात्मतयाऽवस्थानेन पूरयति सः परः (पॄ पालन-पूरणयोर्जुहोत्यादिगणीयः); एवं पुमांसं चेतनमपि पृणाति तदन्तर्यामितया विराजमानः पालयति सः परः (पॄ पालन-पूरणयोः क्र्यादिगणीयः); तथा यो भक्तानां तदेकपरायणानामशेषा एव कामनाश्चतुर्वर्गान्तर्वर्त्तिनोऽभिलाषान् पारयति पूरयति सफलयति सः परः पॄ पूरणे चुरादिगणीयः)। एषु सर्वेषु लोकेषु व्याप्तेरसौ विद्वद्भिर्विष्णुरित्यभिधीयते तथा लोकाभिधासु पूर्षु शयनात् पुरुष इति प्रोच्यते। इदं विश्वं व्याप्नुवन्नेवायमेतस्मात् सर्वस्मात् परतोऽपि विराजत इति हेतोरप्ययं प्राज्ञैः पर इति प्रतिपाद्यते श्लोक्यते चेत्थम्—

> पिपर्त्ति प्रकृतिं नित्यं पुमांसं च पृणाति यः
> यः पारयति भक्तानामशेषा एव कामनाः
> विश्वं व्याप्यापि यो देव एतस्मात् परतः स्थितः
> परस्मै श्रीमते तस्मै विष्णवेऽस्तु नमो नमः ॥

परमपुरुषोऽयं श्रीभगवान सत्त्वरजस्तमोरहितत्वात् सूरिभिर्निर्गुण इति व्यपदिश्यते, वस्तुतस्त्वेष ज्ञानानन्दादिगुणसहितत्वात् सगुण एव। यद्यपि सगुणस्य भगवतो दिव्या गुणा अपरिमेयास्तथपि भक्ताः प्रायशस्तेषु षड् बहुमानपुरस्सरं निर्दिशन्ति तथा

> ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः
> भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः

इति व्यासदेव-वचः प्रमाणरूपेणोपन्यस्यन्ति। स्वयं श्रीभगवान् वसुदेव-नन्दनः पार्थं प्रति

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च

इत्यत्र स्वमहिमानं प्रतिपादयन् आत्मनो गुण-त्रयं धर्म-ब्रह्म-सुखात्मकं विवृणोति। अतोऽसौ भगवान् ऐकान्तिक-सुखस्य, शाश्वत-धर्मस्य, अमृताव्यय-ब्रह्मणश्च परमाधार:। आनन्दापरपर्यायं सुखमेको गुण:, शाश्वतो धर्मो द्वितीयो गुण:, तथोपनिषत्सु बहुत्र प्रपञ्चितं यदव्ययममृतं ब्रह्म तत्तृतीयो गुण:। एवमगणित-गुण-गणालंकृतोऽयं सगुण: परमेश्वरो भक्त-जन-मनांसि वशीकरोति। जगतामुदयो वा विभवो वा विलयो वा तस्यैव लीला।

अयम्भगवान् अलौकिकत्वाद् दिव्यत्वात् चिदानन्दमयत्वाच्च तत्पराङ्मुखानाञ्जनानां कृतेऽगोचर एव। किन्तु ये तं समाराधयन्ति, तेषां पुरत आत्मनो मूर्त्तिं, स्वां तनूं, विवृणुते—आत्मानं गोचरयति। अत: साधु सूत्रितं शारीरिक-मीमांसायाम् "अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इति। एवं खलु तस्मिन् पर-तत्त्वे गोचरत्वागोचरत्वयो: सुन्दर: समन्वयो विद्यते, यत: साधककृतादाराधनात् प्रागगोचरोऽप्यसौ ततोऽर्वाग् गोचरो जायते।

ये सन्तो महान्तो महात्मानस्तदीयं दिव्यं दर्शनमवाप्याऽमन्दमानन्दमन्वभूवन् ते हैवङ्कथयाञ्चक्रुर्यदसौ परमात्मा स्वेतर-समस्त-वस्तु-विलक्षण:, षाड्गुण्यविग्रह:, सच्चिदानन्दघन:, श्यामोऽपि स्वर्णाभ:, अपीच्य-वया:, नित्यं सश्रीको विमल-कमल-दल-नयन-युगल:, परमकमनीयश्चेति। तथा च त इत्थं प्रत्यपीपदन् यदसौ परम-कारुणिको धर्म-सिन्धुमुद्वेलयन्तमसुर-निकरं पराचिकीर्षु: स्वरूपतो वाऽऽवेशतो वा पूर्णतो वांऽशतो वा यथावेलमवतरति तथा 'भजते तादृशीर्लीला या: श्रुत्वा तत्परो भवेत्।' न च कथमसौ पूर्णतोऽवतरेदिति शङ्कनीयम्, यत: 'पूर्णात्पूर्णमुदच्यत' इति विशदं निगदन् स्वयं निगम एव तं संशयं समूलमपनुदति।

आप्त-वचांसि पर-तत्त्व-सद्भाव-समर्थकानि तदद्वितीय-वैभव-प्रतिपादकानि च भूयांसि सन्ति। तेभ्योऽस्माकं हृदयेषु पर तत्त्व-विषयकं ज्ञानं जायते। तस्य महिम्नो ज्ञानादनन्तरमस्माकं मनांसि तत् प्रति प्रेमातिशयेन प्रपूर्यन्ते। यदा च समीचीन: प्रेमा सञ्जायते तदा प्रेम-पात्रं प्रति सेवा-भाव: स्वयं प्रवर्त्तत इति सर्वत्र जगति विश्रुतम्। अतो ज्ञानं प्रथमम्, प्रेमा द्वितीय:, सेवा च तृतीया, इति साधनत्रिवेणी कं न सहृदयमाह्लादयति। अयं क्रमोऽन्येभ्य: क्रमेभ्य: साधीयान्। आचार्य-चक्र-चूडामणिना हि साधु यदुक्तं तदस्मिन् विषये सम्यग् विवेचनीयम्—

तवानुभूति-सम्भूति-प्रीति-कारित-दासताम्
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा।

अस्याऽयमाशयः । भक्तो भगवन्तं सविनयमभ्यर्थयते । हे प्रभो, कृपया मह्यं स्वीयदासता प्रदीयताम् प्रसादरूपेण ।

कीदृशी दासता ?
या वै प्रीत्या कार्यते ।
कीदृशी प्रीतिः ?
या हे नाथ, तवाऽनुभूतेरनन्तरं सम्भवति ।

अहं प्राक् त्वां मङ्गलमूर्त्ति स्व-हृषीकैरनुभूयासम्, तत्पश्चात् स्वयमेव मे मनस्त्वां प्रति प्रेम-सम्पन्नं भविष्यति । प्रेम्णोऽनन्तरं च सेवा स्वयं समुत्पत्स्यते । एतं ज्ञान-प्रेम-सेवाऽभिधं क्रमं विहायाऽहं कामप्यन्यां गतिं स्वोद्धारकारिणीं न जाने ।

ये परम कमनीये परतत्त्वेऽशेष-भुवन-मङ्गल इन्दिरा-मन्दिरे सदा स्निह्यन्ति ते नितान्तं धन्या एव सुकृतिनः । तान् प्रति कश्चिद् वावदूको जीवेश्वरयोरैक्यं प्रतिपादयितुमीहते चेत्तर्हि तद्-वचांसि निराकुर्वाणास्त इत्थं समादधते यज्जीवेशयो-रैक्यं सिंह-माणवकयोरैक्यमिव शास्त्र-सम्मतम् । अस्याऽयमाशयः । यथा 'माणवकोऽयं सिंह' इति वदता विपश्चिता न सर्वांशतो मृगेन्द्रेण समं बालकस्यैक्यमभिप्रेयते, अपि तु वीरता-प्राचुर्यमेव; तथैव 'अयमात्मा ब्रह्म' इति प्रतिपादयता शास्त्रेण न सर्वांशतो ब्रह्मणा सममात्मन ऐक्यं प्रतिपाद्यते, अपि तु ज्ञानाऽऽनन्दाऽऽदि-प्राचुर्य-साम्यमेव । अन्यथा जीवेशयोः परमैक्ये प्रकल्पिते सतीशकृतो जगद्व्यापारोऽपि जीवे सम्भाव्येत, किन्तु

'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च'

इति सूत्रयता महर्षिणा द्वैपायनेन सा सम्भावना दूरमपास्ता । अतः पर-तत्त्वेन ऐक्यं नाभिलषन्तस्ते तज्-ज्ञान-जनित-प्रीति-कारितां सेवामेव नितरां कामयमानाः सुखं विलसन्ति । इति शम् ।

भारत सरकार ने डॉ० कृष्णदत्त भारद्वाज को उनकी विशिष्ट योग्यता के लिए विशेष सम्मान दिया है । डॉ० महोदय राष्ट्रपति से पहले ही पुरस्कृत हो चुके थे । श्रेय परिवार डॉ० महोदय को हार्दिक बधाई देता है ।

राम और कृष्ण की विश्व प्रियता

★ आचार्य अमृतवाग्भव

विश्व-साहित्य में राम और कृष्ण ये दो नाम सबसे अधिक प्रिय और सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक पुरुष या मां-बाप अपने पुत्र का अच्छे से अच्छा नाम रखना चाहते हैं, और रखते हैं।

भारतीय संस्कृति में अपने बच्चों के नाम भगवान् के नाम पर रखने की रुचि प्रायः रही है। इसका कारण है उत्तमलोक प्राप्ति और यम-यातना से छुटकारा। श्रीमद् भागवत में महापुरुष योगीश्वर शुकदेव ने एक गुप्त आख्यान परीक्षित राजा से कहा था जो कि अजामिलोपाख्यान नाम से प्रसिद्ध है। अजामिल एक श्रोत्रिय ब्राह्मण होता हुआ भी यौवन में कामपीडा से संतप्त होकर आचरणहीन हो गया था उसने अपनी विवाहिता स्त्री छोड़ दी थी और एक अन्य शूद्र स्त्री को अपने पास रख लिया था। किन्तु पूर्व संस्कार-वश उस शूद्र स्त्री से उत्पन्न अपने पुत्र का नाम नारायण रखा था। बुढ़ापे में मृत्यु के समय जब यमदूत आ गए थे, तो उसने भय से अपने पुत्र को 'नारायण' कहके पुकारा। भगवान् की माया अनन्त है और वे अत्यन्त दयालु हैं। नारायण नाम लेते ही भगवान् नारायण ने उसकी पुकार सुनली और उन्होंने अपने दूत भेज दिए। भगवान नारायण के दूतों ने यमदूतों को भगा दिया। भगवान् के नाम का ऐसा प्रभाव है।

इसी कारण भारतीय लोग अपने बच्चों के नाम प्रायः अपने इष्ट देवताओं के रखते थे और इसका प्रभाव सभी संस्कृतियों पर प्रायः रहा है। प्रायः सभी आस्तिक संस्कृतियों के मानने वाले अपने बच्चों के नाम महापुरुषों के नामानुसार रखते आए हैं।

भारत में जिन्हें शंकर नाम प्रिय है, वे अपने बच्चों के नाम रमाशंकर, उमाशंकर, लक्ष्मीशंकर, करुणाशंकर आदि रखते हैं। जिनको नारायण नाम प्रिय है, वे लोग राम नारायण, कृष्ण नारायण, लक्ष्मी नारायण, शंकर नारायण आदि रखते हैं किन्तु राम और कृष्ण के नाम रखने वाले सबसे अधिक मिलेंगे। राम का अर्थ केवल दशरथ पुत्र राम नहीं। सबसे प्रथम राम नाम भृगु महर्षि के वंशज महर्षि जमदग्नि ने अपने पुत्र का रखा जोकि भगवान् परशुराम नाम से संपूर्ण विश्व में प्रसिद्ध हो गए। वे दशावतारों में एक महान् अवतार माने जाते हैं। उसके पश्चात्

सूर्यवंशी इक्ष्वाकु कुल के प्रसिद्ध महाराजा दशरथ के सबसे बड़े पुत्र का उनके कुल पुरोहित ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने राम नाम रखा, यह सर्व विदित है।

दशरथ पुत्र राम भी दशावतारों में एक महान् अवतार माने गए। भगवान् परशुराम की प्रतिष्ठापित वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं को जिन्होंने पूर्ण प्रतिष्ठित किया। इसी कारण भारत के प्रत्येक प्रान्त में राम नाम अत्यन्त प्रिय हो गया। प्राय: यहां के लोगों की ऐसी धारणा है कि किसी न किसी बहाने से भी राम का नाम मुख से निकलता जाए। इसी कारण आज भी हम देखते हैं कि अपने बच्चों के कृष्ण राम, लक्ष्मी राम, शंकर राम, नारायण राम, परशुराम, भक्तराम आदि नाम रखते हैं। इतना ही क्या, घसीटू राम, लम्भू राम, घासी राम, घीसू राम आदि नाम रखे जाते हैं और सभी का आशय यही निकलता है कि राम नाम का उच्चारण किसी न किसी प्रकार मुख से होता रहे।

बम्बई में हमने देखा कि घर में बर्तन मांजना आदि काम करने के लिए जो कर्मकार (नौकर) आदि रखे जाते हैं, उनका नाम चाहे कुछ भी हो किन्तु उसे 'रामा' कहते हैं और 'रामा' कहकर पुकारते हैं। वे लोग आपसी बातचीत में कहते हैं हमने 'गडी' (मित्र) रखा है तुमने भी कोई आजकल "रामा" (गडी) रखा है कि नहीं। कितनी उच्च भावना है यह कि नौकर को मित्र समझना और उसे 'रामा' नाम से पुकारना।

भावना यह है कि मुख से राम नाम का उच्चारण होता रहे। भारत में अंग्रेजों के शासन काल में हिन्दुओं को विशेष सम्मानित जब करना होता था तो 'राव साहब, राव बहादुर' पदवी दी जाती थी। इसी प्रकार मुसलमानों को 'खान साहब, खान बहादुर' पदवी दी जाती थी।

भारतीय सिक्ख सम्प्रदाय के पुज्य सभी गुरुओं ने और पूज्य ग्रन्थों में राम नाम के प्रभाव का अत्यधिक वर्णन किया है।

इसी तरह से ग्रामों, नगरों, मुहल्लों के नाम भी ऐसे रखे जाने लगे, जिनसे राम नाम का उच्चारण अवश्य हो। इसका प्रभाव न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी पड़ा और वहां भी राम नाम जन-जन में प्रिय हो गया। इटली की राजधानी का नाम 'राम' है, जिसे आजकल अपभ्रंश के कारण 'रोम' कहते हैं। इतना ही नहीं, उस राजधानी के सामने जो पहाड़ी है उसे भी 'सेता' कहते हैं, जो कि वस्तुत:

'सीता' है। किसी समय रोमन साम्राज्य भी संसार में प्रसिद्ध हो गया था। 'रोमन' 'रामाणाम्' का अपभ्रंश है। अस्तु।

भारत में बड़े पुरुष को 'राम' शब्द सम्मानार्थक लगा दिया जाता था। राम शब्द ही बिगड़ कर 'राव' शब्द बना है। जैसे 'नाम' का काश्मीर में, महाराष्ट्र में 'नाव' अपभ्रंश है। काश्मीरी भाषा में जब किसी को पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है? तो कहते हैं "चे क्या छ नाव"? मराठी भाषा में पूछेंगे "तुझ नाव काय आहे"? इसी तरह 'ग्राम' का 'गांव' हो गया है। ऐसे ही 'राम' का 'राव' हो गया। मध्य-प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात और हरियाणा में भी बड़े पुरुषों के आगे 'राव' लगाने लगे। जैसे—राम राव, कृष्ण राव, शंकर राव, जनार्दन राव आदि। इससे प्रतीत होता है कि राम शब्द सम्पूर्ण विश्व को प्रिय हो गया था।

अब देखिए—कृष्ण नाम की लोक-प्रियता। कृष्ण नाम बहुत प्राचीन है। महर्षि व्यास का नाम भी कृष्ण था। किन्तु वसुदेव पुत्र कृष्ण दशावतारों में एक महान् अवतार माने गए हैं। यह एक महान् अवतार बडा रंगीला, बडा कूटनीतिज्ञ, बडा ही युद्ध कुशल, बड़ा ही लोकोपकारक और महान् ज्ञानी रहा है। इसी कारण भगवान् कृष्ण के लिए संक्षेप में "नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मण हिताय च। जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः।" ऐसा सभी महापुरुषों ने कहा है।

इसमें सबसे बड़ी महापुरुषता अभिव्यक्त हो जाती है। और यही कारण है कि व्यवहार में सम्पूर्ण विश्व में इस नाम का अत्यधिक प्रसार हुआ। कृष्णान्त नाम जैसे हरिकृष्ण, गोपीकृष्ण, रामकृष्ण, शंकरकृष्ण आदि नाम तो थे ही। इसी भांति ग्रामों, नगरों, मुहल्लों, नदियों आदि के नाम भी रखे गए। अब इस कृष्ण शब्द के अपभ्रंश की ओर देखिए—किश, किशन, किन, किन्न, काह्ना, कन्हैया, घनैया, कांनडा, कांनड़ा, किनु, काहन, कहान, केन आदि अनेकों अपभ्रंश हुए। केन पर यूरोप में एक लालटेन है, जिसे हरिकेन कहते हैं। अमरीका में कनाडा प्रान्त प्रसिद्ध है, जो कि कृष्ण का अपभ्रंश है। यहां रागों में काफी कानड़ा, दरबारी कानड़ा आदि प्रसिद्ध हैं।

मीरा भगवान् कृष्ण को कानूड़ो कानूडो बार बार कहती है।

काश्मीर में कृष्ण के अपभ्रंश किशवट-किनवट प्रसिद्ध हैं। किनाराम बाबा एक वाराणसी के प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। कन्हैया लाल, घनैयाराम तो सारे उत्तर प्रदेश में प्रसिद्ध हैं। काहनचन्द, कान्हाराम ये पंजाब के प्रसिद्ध नाम हैं।

इसका प्रभाव मुसलमानों पर भी था। जैसे उनके नामों में बड़े आदमी को खान शब्द से पुकारेंगे। खान अब्दुलगफ्फार खां, खान बहादुर, खान साहब आदि।

कारण यह है कि विश्वामित्र के पुत्रों और यदु के पुत्रों के साम्राज्य पश्चिमोत्तर भूमध्य सागर पर्यन्त फैले हुए थे। उन्हीं के वंशधर यूरोप और पश्चिमी एशिया भर में फैले हुए थे। ये लोग चन्द्रवंशी थे। भले ही आज मुसलमानों को खान नाम का मोल मालूम न हो, पर ये कृष्ण का ही अपभ्रंश है।

इस तरह राम और कृष्ण इन दो नामों का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व में फैला दिखाई देता है। चाहे किसी को इसका रहस्य मालूम हो या न हो।

इससे यही प्रकट होता है कि अन्ततोगत्वा भगवन्नाम ही अत्यन्त कल्याणकारी रहेगा। इसीलिए त्रिकालज्ञ भारतीय महर्षिगण एक स्वर में पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा
वैकुण्ठ नाम ग्रहणमशेषाघ हरं विदुः।

राम और कृष्ण की जय।

काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में साधारणीकरण का भ्रान्त अर्थ

★ डॉ० राम दत्त भारद्वाज

काव्य शास्त्र के क्षेत्र में 'साधारणीकरण' की सर्वप्रथम चर्चा भट्टनायक ने की, जिनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं। उनके मत का उल्लेख अभिनव गुप्त तथा अन्य आचार्यों ने किया है। अभिनव गुप्त ने यह उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक' पर लोचन नाम की टीकाओं में किया है। परवर्ती आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, गोविन्द ठक्कुर आदि ने इसकी चर्चा की। हिन्दी के अनेक आधुनिक आचार्यों ने इस विषय का मन्थन किया है, तथापि इस विषय पर और भी विचार की आवश्यकता है।

अभिनव भारती में लिखा है कि भट्टनायक के मतानुसार रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। यदि रस को परगत समझा जाए, तो उसकी उत्पत्ति को मानना व्यर्थ होगा; क्योंकि उसकी प्रतीति तो सामाजिक को होनी चाहिए। यदि रस की स्वगत प्रतीति मानी जाए तो करुण रस में सामाजिक को दुःखित होना चाहिए, जो ठीक नहीं। प्रथमतः सीता आदि की विभाव-रूप से उपस्थिति नहीं होती, द्वितीयतः सामाजिक को प्रेक्षण के समय अपनी स्त्री आदि की स्मृति नहीं होती. तृतीयतः देवता आदि साधारणीकरण के अयोग्य है, चतुर्थतः समुद्र-लंघन आदि कार्य भी असाधारण है; अतएव स्वगत प्रतीति सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त रसानुभूति को रत्यादिमान् राम की स्मृतिरूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति के आधार राम की उपलब्धि नहीं। यदि शब्द, अनुमान आदि से रस की प्रतीति मानी जाए, तो उससे ऐसी सरसता उपलब्ध नहीं होती जैसी प्रत्यक्ष ज्ञान से। प्रत्यक्ष में भी रस की प्रतीति अयुक्त है, क्योंकि नायक-नायिका के सम्भोग को प्रत्यक्ष देखने पर रस के बजाय लज्जा घृणा आदि एवं तज्जन्य व्यग्रता के कारण तन्मयता का अभाव होता है। अतएव रस की प्रतीति नहीं होती। यदि रस की उत्पत्ति मानी जाए तो भी ये सब दोष दृष्टिगोचर होंगे। और यदि रस की अभिव्यक्ति मानी जाए, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि शक्ति रूप से पहले से ही स्थित, तदनन्तर विभावादि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति मानने पर रस में तारतम्य होगा और उसकी अखण्डता नष्ट होगी।

काव्य में दोषाभाव और गुणालंकारमयता होते हैं, और नाटक में आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य इन चार प्रकार के अभिनय से; तथा अभिधा के पश्चात् समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप का, भावकत्व व्यापार के द्वारा, भाव्यमान (साधारणीकृत) रस का भोजकत्व व्यापार के द्वारा भोग किया जाता है। पर भोग अनुभव स्मृति आदि से भिन्न प्रकार के रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रवीभाव, विस्तार तथा विकास रूप सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्ति रूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश होता है। यह भट्टनायक का मत है 'अभिनवभारती' के अनुसार।

'लोचन' नाम की टीका में भट्टनायक का यह मत कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त है। यदि रस परगत रूप में प्रतीत हो तो उसमें तटस्थता होगी। यह भी कहना ठीक नहीं कि वह स्वगत रूप में प्रतीत होता है; क्योंकि इस रूप में प्रतीति मानने पर अपने अन्दर रस की उत्पत्ति माननी होगी। उदाहरणतः यह कहना अनुचित होगा कि सीता के प्रति सामाजिकों में रस की उत्पत्ति होती है, क्योंकि भगवती सीता सामाजिकों के प्रति विभाव नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाए कि साधारण कान्तात्व-वासना के विकास के लिए रस विभाव रूप से प्रयुक्त होता है, तो देवता इत्यादि के वर्णन में वह कैसे हो सकता है ? यह कहना भी अयुक्त है कि वह मध्य में अपनी कान्तादि का स्मरण अनुभव का विषय बन जाना है। अलौकिक राम के सेतुबन्धन इत्यादि विभाव साधारणता को किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे उत्साही राम का स्मरण कर लिया जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि स्मरण का आधार होता है अनुभव। शब्द से भी उसकी प्रतिपत्ति में रसोत्पत्ति सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष रूप में नायक-मिथुन की प्रतिपत्ति में रसाभाव होता है। करुणा के उत्पन्न होने से दुःख प्राप्त करने पर करुणरस के नाटकों के देखने की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव रस की उत्पत्ति नहीं होती।

शक्तिरूप अर्थात् सूक्ष्म वासनारूप शृंगार की अभिव्यक्ति में तारतम्य होता है अतः वह न स्वगत है न परगत ही। इस कारण काव्य से रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न, और न अभिव्यक्त ही।

पर बात यह है कि काव्य के शब्द अन्य शब्दों से विलक्षण होते हैं। काव्यात्मक शब्दों में तीन व्यापार होते हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। श्लेषादि अलंकार, वृत्तिभेद वैचित्र्य, श्रुतिदुष्ट-वर्जन काव्य में होते हैं जो तन्त्रादि शास्त्रों के वे अपरिहार्य गुण नहीं। अतएव अभिधा को विलक्षण करने के निमित्त भावकत्व की

आवश्यकता है। भावकत्व ही साधारणीकरण है, जो विभावादि को साधारणता प्रदान करता है। भावित रस में (जो उसका भोग है), वह अनुभव, स्मरण इत्यादि प्रतिपत्तियों से विलक्षण है और द्रुति, विस्तार और विकास से युक्त होता हुआ रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्त्वमय अपने चित् स्वभाव लोकोत्तरानन्दमय विश्रान्ति लक्षणवाला परब्रह्मास्वाद के समकक्ष होता है।

'अभिनव भारती' में अभिनव गुप्त का मत साधारणीकरण पर इस प्रकार है : नायक की एक चित्तवृत्ति, लौकिक गीतों के गेय पद साङ्गलास्यादि नृत्य से युक्त, गुण, अलङ्कार, गीत, वाद्य आदि के द्वारा अत्यन्त सौन्दर्य को प्राप्त काव्य महिम के द्वारा की जाने वाली प्रयोग-परम्परा एवं अभ्यास-विशेष के प्रभाव से स्वकीय-परकीय भाव से रहित हो जाती है। इसलिए साधारणीकरण हो जाने से (नायक की अपनी चित्त-वृत्ति) सामाजिकों को भी अपनी सत्ता के भीतर समाविष्ट करती हुई और नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादत्म्य होने के कारण ही अनुमान तथा आगम एवं योगि-प्रत्यक्ष से तटस्थ, प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण, तथा परकीय लौकिक चित्तवृति से भिन्न प्रतीत होते हैं। अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक प्रमदादि से उत्पन्न रति अथवा शोक के समान अन्य चित्त-वृत्ति के उत्पादन में अक्षम होने से ही निर्विघ्न अनुभूति की विश्रान्ति अथवा आस्वादन नामक व्यापार के द्वारा रस कही जाती है।··· साधारणीकरण विभावादि के द्वारा होता है।···

विभावादि के साधारणीकरण के कारण सामाजिक की रत्यादि वासना उचित रूप से उद्बुद्ध हो जाती है, अतएव अन्य (अर्जनादि में होने वाले परोक्षत्वादि विघ्नों) की सम्भावना नहीं रहती।

स्थायिभाव ही चर्वणा का पात्र है।

हास्यरस के समान विभाव होने के कारण (रौद्र रस की) चर्वणा क्रोधमयी ही होती है। इसलिए उसका आस्वादन करने पर रौद्र रस भी क्रोधात्मक ही होता है। तेन हास्यवत् साधारण विभावत्वात् चर्वणापि क्रोधमय्येवेति तद् रसना चर्वणे रौद्रः क्रोधात्मक एव। रौद्ररस Ch. VI p. 53

सार रूप से कहा जा सकता है कि (क) साधारणीकरण, भट्टनायक के अनुसार, विभावादि का तदनन्तर असंलक्ष्य क्रम से स्थायी भाव का होता है। अभिनव गुप्त के अनुसार स्थायी भाव का भी युगपत् होता है।

(ख) भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण ही वस्तुत: भावकत्व व्यापार का प्राण है, अर्थात् दोनों एक ही हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है देशकाल के बन्धन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति; व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दु:खात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दु:ख की भावना भी नष्ट हो जाती है।

(ग) भट्टनायक के अनुसार भावकत्व व्यापार के द्वारा व्यक्ति का भाव्यमान स्थायी भाव ही रसरूप में परिणत हो जाता है। अभिनव गुप्त के अनुसार कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं, वह सामूहिक क्रिया है; प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता वरन् समस्त सामाजिक एकाग्र चित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।

(घ) भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती है। यहां विषय-विषयि पक्षों का संतुलन है। अभिनव के अनुसार साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण; वह आस्वाद है, यहां विषयिपक्ष की स्वीकृति है।

काव्य प्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने साधारणीकरण को इस प्रकार स्पष्ट किया है : भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभादय: स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत् सीतादिविशेषाणाम् कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थिति:। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धि-विशेषानवच्छिन्नत्वेन।

विश्वनाथ के मत मे साधारणीकरण तो सब का होता है; किन्तु इस प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य पर आग्रह है। उदाहरणत: प्रमाता की चेतना विकसित होकर हनुमान् की चेतना के साथ तादात्म्य कर समुद्रोल्लंघन जैसे अलौकिक कार्यों के प्रति भी उत्साह का अनुभव करती है। यहां हनुमान् (विभाव) का उत्साही पुरुषमात्र के रूप में साधारणीकरण नहीं माना गया, वरन समस्त प्रमातृ-वर्ग का अलौकिक शक्ति-सम्पन्न हनुमान् के साथ तादात्म्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार यह मत भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मत से कुछ भिन्न है।

भट्टतोत के मत में कवि, नायक (आश्रय), और श्रोता इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण की पूर्णता होती है।

पण्डितराज जगन्नाथ के मत से आश्रय के साथ भ्रमवश तादात्म्य होता है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में संस्कृत के प्रमुख आचार्यों की विचारधारा इस प्रकार रही है।

अब प्रस्तुत विषय पर कुछ विचार स्वतन्त्र रूप से कर लेना अभीष्ट है।

साधारणीकरण क्या है ?

'साधारणीकरण' शब्द में 'च्वि' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग अभूततद्भावे' अर्थात जो वैसा नहीं उसे वैसा कर देना इस अर्थ में होता है। इस प्रकार साधारणीकरण' शब्द का अर्थ है—जो साधारण नहीं उसे साधारण कर देना। ऐसा लगता है कि इस शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—मनोविज्ञानपरक प्रत्ययीकरण में, न्यायपरक सामान्यीकरण में, और धर्मशास्त्रपरक साधारणीकरण में।

(क) प्रत्ययीकरण। मनोविज्ञान के अनुसार, समान वस्तु-विशेषों के प्रत्यक्षों से, पुनरुत्पादिका कल्पना आदि के आधार पर प्रत्यय (concept) का निर्माण होना है। शिशु अनेक बार, अनेक रंग-रूप के कुत्तों को देखकर उनके समान गुणों के आधार पर 'कुक्कुरत्व का निर्माण कर लेना है। सामान्यीकृत यह रूप प्रत्यय कहा जाता है, और प्रत्यय बनाने की यह प्रक्रिया प्रत्ययीकरण (conception) कहलाती है।

(ख) सामान्यीकरण। भारतीय न्यायशास्त्र में और पश्चिमी आगमन तर्क-शास्त्र में विशेष से सामान्य की ओर की प्रवृत्ति को सामान्यीकरण कहते हैं। बार बार अनेक स्थानों और कालों में धूम को अग्नि के साथ देखकर यह निष्कर्ष कि जहां जहाँ धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है (यत्रयत्रधूमस्तत्रतत्राग्निः) अथवा विभिन्न लौह-खण्डों को अग्नि में तपाकर और उन्हें बढ़ा हुआ पाकर यह निष्कर्ष कि लोहे के सभी टुकडे तपने पर बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न धातुओं के खण्डों को अग्नि में तपाकर और उन्हें बढ़ा हुआ पाकर यह अनुमान कि सभी धातुएं तपाने पर बढ जाती हैं सामान्यीकरण का उदाहरण है। ऐसे सामान्यीकरण में विशेषों से सामान्य की ओर (induction) होता है। ऐस लगता है कि अभिनवगुप्त ने 'साधारणीकरण' को कभी प्रत्ययीकरण के और कभी सामान्यीकरण के रूप में देखा है। अभिनव का लेख है: तत एव न परमितमेव साधारण्यमपितु विततं व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरेव वा। सामान्यीकरण तो व्यक्ति-विशेषों के आधार पर होता है, न कि किसी व्यक्ति-विशेष के आधार पर।

(ग) साधारणीकरण। 'साधारण' शब्द का प्रयोग अभिनवगुप्त से भी बहुत पहले से होता रहा है। किन्तु इसका अर्थ है संयुक्त उपभोग अथवा समानीकरण।

'साधारण धन' को अंग्रेज़ी भाषा में 'जोइंट प्रोपर्टि' कहा जाता है। इस अर्थ में कुछ प्राचीन प्रयोग द्रष्टव्य हैं :

(१) ऋग्वेद के कम से कम चार स्थलों पर 'साधारण' अथवा 'असाधारण्य' के प्रयोग इस प्रकार हैं :

(अ) यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम् ।
तं त्वां वयं हवामहे ।। ४.३२.१३

अर्थात् हे इन्द्र यद्यपि तुम सब यजमानों के साधारण देवता हो, तथापि हम तुम्हारा आह्वान करते हैं।

(ब) उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः
साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्
चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि ।। ७.६३.१

अर्थात् शोभनभाग्य, सर्वदर्शक, सभी मनुष्यों के लिए साधारण, मित्र और वरुण के नेत्रस्वरूप तथा प्रकाशमान सूर्य उग रहे हैं, जो चमड़े की तरह अन्धकार को संवेष्टित करते हैं।

(स) विश्वस्मा इत् स्वर्दृशे
साधारणं रजस्तुरम् ।
गोपामृतस्य विर्भरत् ।। ६.४८.४

अर्थात् जल भेजने वाले, यज्ञ के संरक्षक और स्वर्गस्थ सभी देवों के लिए साधारण सोम को श्येन ले आया।

(द) परा शुभ्रा अयासो यव्या
साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः ।
न रोदसी अपनुदन्त घोरा
जुषन्त वृधं सख्याय देवाः । १.१६७.४

अर्थात् साधारण स्त्री की तरह आलिङ्गन-परायण बिजली के साथ शुभ्रवर्ण, अति-गमनशील और उत्कृष्ट मरुद्गण मिलते हैं। भयंकर मरुद्गण द्यावा-पृथिवी को नहीं हटाते। देवता लोग मैत्री के कारण उनकी समृद्धि का साधन करते हैं।

(२) (अ) बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन है : यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता। एकमस्य साधारणं देवानभाजयत्। अर्थात् परमपिता परमात्मा ने अपनी मेधा और तपस्या से सात प्रकार के अन्न उत्पन्न किए। इनमें से एक तो

सबके लिए समान और दो देवताओं को दिए। १.५.१ और भी: तत्साधारणमन्न यदिदमद्यते (१.५.२) अर्थात् वह साधारण अन्न है जो यह खाया जाता है।

(ब) रामपूर्वतापिनी उपनिषद् का वचन है : सर्वेषामेव मन्त्रणामेष साधारण क्रमः। ३.५

(स) सर्वसारोपनिषद् में परमात्मा की माया के सम्बन्ध में लेख है : प्रमाणा प्रमाणसाधारण न सती नासती न सदसती। ४

(३) पर्यायों और उनकी संख्या के सम्बन्ध में निघण्टु और निरुक्त में अनेक स्थलों पर 'साधारण' शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा :

(क) नभ इति षट् साधारणानि (निघण्टु १.४; निरुक्त २.१३)

(ख) साधारणान्युत्तराणि षट् दिवश्चादित्यस्य च (निरुक्त २.४.१) अर्थात् आदित्य के साधारण (या साझे के छः नाम हैं।

(ग) रश्मि (किरण) के पन्द्रह नाम हैं, जिनमें से प्रथम पांच घोड़ों की लगाम के भी साझे के नाम हैं : रश्मि नामानि उत्तराणि पञ्चदश। रश्मिः यमनात्। तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्व-रश्मिभिः (२.५.१)

(घ) आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वत नामभिः (२.६.२०) अर्थात् मेघनामों में उपर और उपल इन दो नामों से पूर्व सब नाम पर्वत नामों के साथ साधारण हैं।

(ङ) अथर्वाणोऽनवत्तः। थर्वतिश्चरतिकर्मा। तत्प्रतिषेधस्तेषामेषा साधारणा भवति (निरुक्त ११.२.१८) अर्थात् थर्व=गति। उसका निषेध है अथर्वा। निषेधार्थक 'अ' और थर्व' धातु से है। उन सब (चारों अंगिरस, पितृ, भृगु, अथर्वणः) की यह साधारण (साझे की) ऋचा है। निरुक्त ११.२.१८

(च) अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते। धूमेनाग्नी। रजसा च मध्यमः। तयोरेषा साधारणा भवति (निघण्टु १२.२६)

(छ) तेषामेषा साधारणी भवति (निरुक्त १२.३.२६)

(ज) स्वः। पृश्निः। नाकः। गौः। विष्टप्। नभ इति साधारणानि निघण्टु १.४)

(४) कामसूत्रम्' में वात्स्यायन ने 'साधारण' शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है :

(क) वरं वश्यो दरिद्रोऽपि
निर्गुणोऽप्यात्मधारणः ।
गुणैर्युक्तोऽपि न त्वेव
बहु साधारणः पतिः ।। ३.४.५१

जयमङ्गला टीका के अनुसार, बहुसाधारणः पतिः इसका अर्थ है बहूनामेकः पतिः ।

(ख) नान्तःपुराणां रक्षणयोगात् पुरुष-संदर्शनं विद्यते पत्युश्चैकत्वादनेक साधारणत्वाच्चातृप्तिः । तस्मात्तानि प्रयोगत एव परस्परं रञ्जयेयुः । (५.६.१) इस पर जयमङ्गला के शब्द हैं : अनेक साधारणत्वाच्चेति=स हि तासां साधारणः कथं तृप्तिं कुर्यात् ।

(ग) नायिका पुनर्बुद्धिशीलाचार आर्जवं कृतज्ञता दीर्घदूरदर्शित्वं अविसंवादिता देशकालज्ञता नागरकता दैन्यातिहास-पैशुन्यपरिवाद-क्रोध-लोभस्तम्भ-चापल वर्जनं पूर्वाभिभाषिता कामसूत्र कौशलं तदङ्गविद्यासु चेति साधारणगुणाः । ६.१.१४ । अर्थात् उक्त गुण स्त्री-पुरुष दोनों में समान होते हैं ।

(५) मनुस्मृति का वचन है :

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ।। ६.९६

(६) आदि कवि वाल्मीकि ने अप्सराओं को साधारण घोषित किया है :

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देव-दानवाः ।
अप्रतिग्रहणादेव ता वै साधारणाः स्मृताः ।। १.४५.३५

'साधारण स्त्री' का अर्थ है वेश्या जिसे आंग्ल भाषा में 'पब्लिक वुमन' कहते हैं ।

(७) भागवत महापुराण में मनुष्यों के साधारण धर्म का उल्लेख हैं, और सब कल्पों में सृष्टिक्रम की साधारणता है :

नृणां साधारणो धर्मः सविशेषञ्च यादृशः ।
श्रेणीनां राजर्षीणांच धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम् ।। २.८.१८
अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः ।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृत वैकृताः ।। २.१०.४६

महाकवि कलिदास ने अपने कतिपय ग्रन्थों में 'साधारण' शब्द का प्रयोग किया है, यथा :

(क) रघुवंश का एक श्लोक है :

सा साधु-साधारण-पार्थिवर्द्धेः
स्थित्वा पुरस्तात् पुरुहूतभासः ।
जेतुः परेषां जय शब्द पूर्वम्
तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ १६.५

इस पर सञ्जीवनी टीका इस प्रकार है : सा वनिता साधु-साधारण-पार्थिवर्द्ध सज्जन साधारण राज्य श्रियः पुरुहूतभास इन्द्रतेजसः परेषां शत्रूणां जेतुर्बन्धुमतस्तस्य कुशस्य पुरस्तात् स्थित्वा जय शब्द पूर्वं यथातथाञ्जलिं बबन्ध ।

(ख) कुमार सम्भव का श्लोक है :

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य
मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्य शोभा जननाद् बभूव
साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥ १.४२

इस पर सञ्जीवनी टीका इस प्रकार है : अन्योन्य शोभाजननाद् भूषणभूष्यभावः अलङ्कारालङ्कार्यभाव स साधारणः समानो बभूव । उभावप्यान्यस्यभूष्यौभषणे च बभूवतुरित्यर्थः ॥ पार्वतीजी की गर्दन के चारों ओर पड़ी माला ने उनकी गर्दन की शोभा में उतनी अभिवृद्धि की जितनी कि उनकी गर्दन ने माला की शोभा में की। अतएव यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता माला और गर्दन में कौन अलङ्कार था और कौन अलङ्कार्य ।

(ग) 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त का प्रियंवदा से कथन है :

भद्रे साधारणोऽयं प्रणयः । सर्वथानुगृहीतोऽस्मि (तृतीय अङ्क) । इस पर सञ्जीवनी टीका है : अथ राजा स्व प्रार्थनामपि भङ्ग्या प्रकाशयन् प्रियंवदा-कृत प्रार्थनामनुमोदने भद्रेति । अयं जीवितालम्बनरूपः प्रणयः—प्रार्थना, साधारणः उभयोरप्यावयोः समानः । तथा च यथा भवतीभिरेतदर्थमहमभ्यर्थ्यं तथा मयाऽपि एतदनुग्रहार्थं भवत्यौ प्रार्थनीये इत्यर्थः । 'प्रणयः प्रेम्णि विस्रम्भे याञ्चा प्रत्ययोरपि' इति विश्वः । अर्थात् राजा ने कहा कि यह प्रार्थना तो दोनों ओर से एक ही प्रकार की है । हम सब प्रकार आपके अनुगृहीत हैं ।

(घ) विक्रमोर्वशी में पुरूरवा चित्रलेखा से कहता है कि, अरी सुन्दरी, तुम अपनी सखी को प्रेम में इतना व्याकुल बता रही हो, परन्तु तुम यह नहीं देख रही हो कि मैं भी उसके प्रेम में पागल हुआ बैठा हूं। हम दोनों का प्रेम दोनों ओर एक जैसा बढ़ा हुआ है, इसलिए एक तपे लोहे को दूसरे तपे हुए लोहे से जोड़ देना ही अब ठीक होगा :

पर्युत्सुका कथयसि प्रियदर्शनां तां
आर्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥

(अङ्क ३ श्लोक १५)

उक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि 'साधारण' शब्द का प्रयोग प्राचीन ऋग्वैदिक काल से कालिदास तक सार्वजनिक, आम, समान, सदृश आदि के अर्थ में होता आ रहा है। मेरे विनीत विचार से काव्यशास्त्र में 'साधारण्य' अथवा 'साधारणीकरण' का प्रयोग सार्वजनिक अथवा मिलीजुली सम्पत्ति के अर्थ में अधिक संगत है। उदाहरण लीजिए—कुछ दिन हुए मैंने एक ग्रन्थ मोल लिया, जिसे पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैंने सोचा कि यदि मैं उसे अमुक सार्वजनिक पुस्तकालय को भेंट कर दूं तो अनेक व्यक्ति उससे लाभ उठा सकेंगे। इसी भावना से मैंने उसे पुस्तकालय को दे दिया। भेंट करने से पहले वह ग्रन्थ मेरा था, अर्थात् मेरी निज सम्पत्ति था; किन्तु भेंट कर देने के पश्चात् वह मेरी निज सम्पत्ति न रहा। अब मैं उसके सम्बन्ध में यह नहीं कह सकता कि वह ग्रन्थ मेरा ही है, अथवा आपका ही है, अथवा उसका ही है; पर मुझे यह कहने का अधिकार है कि वह मेरा भी है, आपका भी है, और उसका भी है। वह मेरा इसलिए है कि मैं पुस्तकालय के सदस्य के नाते अन्य सदस्यों की भाँति, आवश्यकतानुसार उसका उपयोग कर सकता हूं। हां, भेंट करने के पश्चात् मेरा यह अधिकार नहीं कि मैं ही उसका उपयोग करता रहूं। अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण का रूप इस प्रकार स्पष्ट किया : ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेष-स्वीकार-परिहार-नियमानध्यवसयात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदोनविद्यते ॥ ३.१२

काव्य में 'साधारणीकरण' के आधार पर 'सीता' को 'कामिनी' के रूप में देखने की

प्रवणता मनोविज्ञानपरक समझी जा सकती है, ऐसी भ्रान्ति सम्भव है। परन्तु यदि 'सीता' का प्रत्ययीकरण ही अभीष्ट है तो 'कामिनीत्व' पर ही क्यों रुका जाए प्राणित्व अथवा उससे अधिक व्यापक सामान्य पर क्यों नहीं ? ऐसी आपत्ति हो सकती है। मेरी समझ में काव्य में 'साधारणीकरण' का अर्थ 'सार्वजनिकीकरण' समुचित होगा।

साधारणीकरण की आवश्यकता ?

भरत के नाट्यशास्त्र' के व्याख्याता रस की स्थिति पर अटक गए। डॉ० रामानन्द तिवारी के शब्दों में "भट्टलोल्लट और श्री शंकुक अभिनेता में रस की स्थिति की व्याख्या में उलझे रहे। आरोपण और अनुमिति के द्वारा उन्होंने अभिनेता में रस को अन्वित करने का प्रयत्न किया। भट्टनायक ने दर्शक की रसानुभूति का प्रश्न उठाया। शब्द के भावकत्व व्यापार की कल्पना करके उन्होंने साधारणीकरण के द्वारा दर्शक में रसानुभूति को घटित किया। साधारणीकरण का यह सिद्धान्त रस-मीमांसा की चिन्तामणि सिद्ध हुआ। इसके द्वारा एक नहीं दो समस्याएं सुलझ गईं। आश्रयगत मूलरस का दर्शक में अन्वय सम्भव हो गया तथा इस प्रक्रिया में आशंकित पाप का निराकरण भी हो गया। इसी कारण साधारणीकरण रस का सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया। अभिनव गुप्त जैसे महान आचार्य के हाथों यह साधारणी-करण रस के मीमांसकों के लिए महाप्रसाद बन गया"।[1]

किन्तु व्याख्यातृगण भरतमुनि के सिद्धान्त से भटककर गलत रास्तों पर चलने लगे। भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति को समझाने के लिए गुडादिनिष्पन्न व्यञ्जन का दृष्टान्त दिया है (नाट्यशास्त्र ६.३१-३२) जिसकी चर्चा मैं विस्तार से 'काव्य शास्त्र की रूपरेखा' में कर चुका हूं। भरत के अनुसार रस की निष्पत्ति रंगमंच पर विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव एवं सात्त्विकों से तथा नट-कौशल के द्वारा होती है और इस निष्पन्न रस का आस्वादन सुष्ठ मन वाले प्रेक्षक दूर से ही उसी प्रकार कर लेते हैं जिस प्रकार शरबत या पानक तो किचिन में कुक के द्वारा प्रस्तुत होते हैं और डाइनिङ्रूम में प्रभुजन द्वारा उनका आस्वाद होता है। रस ज्ञान की वस्तु नहीं, अनुभव की है; अतएव प्रेक्षकों को रसानुभूति कैसी होती है, इस प्रश्न को उन्होंने नहीं उठाया, क्योंकि कदाचित् वे समझते होंगे कि इस प्रश्न का सीधा सादा सा उत्तर है—सहानुभूति। कटारा, रसगुल्ला आदि नामों के सुनने मात्र से बालकों

---

1 रस और दर्शन : डॉ० रामानन्द तिवारी, समीक्षालोक, पृष्ठ ९२, जुलाई-अगस्त १९७०।

के मुंह में पानी भर आता है, तो क्या अभिनय से प्रेक्षकों को अभिनीत रस की प्राप्ति नहीं हो सकती ? भरत के शब्द स्पष्ट हैं : नानाभावाभिव्यञ्जतान् वागंग-सत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति हर्षादींश्च गच्छन्तीति सुमनसः प्रेक्षका (नाट्य शास्त्र ६.३१-३२) । इस से स्पष्ट है कि प्रेक्षकों को रस की अनुभूति होती है । इसी कारण तो उन्होंने नाट्यरसों की व्याख्या की है—तस्मात् नाट्य-रसा इति व्याख्याताः ।[2] दर्शनशास्त्र के पण्डित डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने "तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः" इस सूत्र में 'तत्र' का अर्थ रंगमंच किया है, और यह स्पष्ट किया है कि काव्यनिर्मिति से लेकर काव्य के रस ग्रहण तक दो प्रक्रियाएं होती हैं, जिनमें से एक तो कवि से आरम्भ होती है और नाट्य अथवा काव्य की उत्पत्ति तक रहती है, और दूसरी नाट्य अथवा काव्य से आरम्भ होकर सामाजिक के मन तक जाती है ।[3]

'साधारणीकरण' के परम्परागत सिद्धान्त को अक्षुण्ण समझ लेने से डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने साधारणीकरण का संकेत भरत के इन शब्दों में पाया है—स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः······ आस्वादयन्ति मनसा । इसी सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र ने भरत के इन शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है : एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते ।[4] परन्तु भरत का साधारणीकरण' अभिनव गुप्त आदि के 'साधारणीकरण' से भिन्न है; क्योंकि भरत का 'स्थायिभाव' नानात्व से शीर्ण नहीं, वह तो विशिष्टता सम्पन्न है । संस्कृत का 'समान' और आंग्ल भाषा का 'कॉमन' एक ही शब्द हैं; इसमें संस्कृत के सकार का ककार हो गया है। आंग्ल भाषा में कॉमन विशेषण का अर्थ है belonging equal to more than one. कॉमन संज्ञा अर्थात् noun का अर्थ है वह भूमि जो किसी समुदाय या बिरादरी की हो। In common का अर्थ है संयुक्त उपभोग । सामान्य वनिता का अर्थ है वेश्या । साधारण धन का अर्थ है संयुक्त उपभोग का धन । ऋग्वेद का मन्त्र है :

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।

---

2 काव्यशास्त्र की रूपरेखा, डॉ० रामदत्त भारद्वाज, पृष्ठ १२२, प्रथम संस्करण १९६३ फरवरी ।

3 सौन्दर्य तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त, डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे, पृष्ठ ६४-६५, प्रथम संस्करण १९६३ सितम्बर ।

4 रस सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १९५ ।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ १०-१९१-३

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ १०-१९१-४

आर. टी. एच. ग्रिफ़िथ का अनुवाद है :

The place is common, common the assembly,
comman the mind, so be their thought united.
A common purpose do I lay before you, and
worship with your general oblation.
One and the same by your resolve,
and be your minds of one accord.
United be the thoughts of all
that all may happily agree.

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'समान' का अर्थ भी 'साधारण' अर्थात् 'सार्वजनिक' होता है ।

साधारणीकरण किसका ?

विभावादि का, यह उत्तर स्वतः पूर्ण है । फिर भी संस्कृत के कुछ आचार्य विभावादि के साथ स्थायीभाव का उल्लेख करते हैं । हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार साधारणीकरण मूलतः आलम्बन के उन गुणों का होता है जो सम्बद्धभाव की जागर्ति के कारण हैं । सीता का सीतात्व तो नष्ट नहीं होता पर उनके ऐसे सामान्य गुण उभरकर सामने आते हैं जिनके कारण वे राम की ही नहीं सम्पूर्ण सहृदय-समुदाय के अनुराग की भाजन बन जाती हैं । परन्तु साधारणीकरण सर्वाङ्ग का ही होता है । लैस्लि एवरक्रांबि जैसे पश्चिमी काव्य शास्त्रियों ने काव्य को प्रेषणीय अनुभूति समझा है । अतएव डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि साधारणी-करण कवि की अनुभूति का होता है सर्वथा युक्ति-सङ्गत है । मैं भी ऐसा ही समझता हूं, परन्तु मेरे विनीत विचार से कवि की अनुभूति व्यक्तिगत है; उसकी अनुभूति में विशेष बातें तथा विशिष्ट भाव हैं और उसकी अनुभूति सरस भी है । कवि अपनी सुसम्पन्न और आनन्दमयी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिए उपस्थित कर देता है । वास्तव में वही कवि सफल माना जाता है जो अपनी अनुभूति को अपने पाठक या सामाजिक के लिए उसी अथवा तत्प्राय रूप में उपस्थित कर सके जिसका अनुभव

वह स्वयं कर चुका हो। साधारणीकरण के पश्चात् कवि की अनुभूति उसकी ही नहीं, उसके साथ औरों की भी हो जाती है।

साधारणीकरण कैसे ?

भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण 'भावकत्व' शब्द शक्ति के द्वारा होता है, जिसके दो साथी हैं अभिधा और भोजकत्व। मेरे विनम्र विचार से शब्द शक्ति एक ही है, यद्यपि वह त्रिगुणात्मक है जिस प्रकार विद्युच्छक्ति—पॉज़िटिव, निगेटिव तथा इन दोनों का समन्वय। अभिनव गुप्त भावकत्व को नहीं मानते; यद्यपि उक्त शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण अंश तो यही है। महिम भट्ट की भांति मैं भी लक्षणा और व्यञ्जना को अलग शब्द शक्ति नहीं मानता, और डॉ० श्यामसुन्दर दास की भांति, उन्हें अर्थ-प्रकार ही समझता हूं। भट्टनायक के कथन में थोड़े संशोधन की आवश्यकता है। वह यह है कि शब्द की शक्ति तो भावकत्व ही है, और अभिधा और भोजकत्व उसके दो रूप हैं। यह बात रूपक के रूप में इस प्रकार कही जा सकती है कि शब्द शक्ति रूपी नदी की धारा तो अभिधा है, भावकत्व उसका चट्टानी भण्डार है जो धारा को गतिशील बनाता है, और भोजकत्व उसका सुमन-संकुल तट-द्वय है जो उसे सरस बनाता है। जिस प्रकार विद्युत् के द्वारा एक व्यक्ति की वार्ता दूसरे व्यक्ति तक पहुंचती है, उसी प्रकार कवि की अनुभूति भी उक्त त्रिगुणात्मक शब्द शक्ति के माध्यम से पाठक-श्रोता के हृदय को यथावत् प्राप्त हो जाती है। दृश्यकाव्य में, कवि अपनी अनुभूति को अभिनेताओं के लिए प्रसारित करता है और अनुकर्तृगण उसे सामाजिकों को 'रिले' कर देते हैं। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में पहले सूचित कर दिया था :

> यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।
> व्यवसायो गृहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते॥   १.४५

क्योंकि

> ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
> तथैव सर्व शब्दानामेते पृथगवस्थिते॥   १.५५

अर्थात् प्रकाश (तेज) के समान, शब्द में भी ग्राह्यता और ग्राहकता के रूप में दो शक्तियां विद्यमान रहती हैं। प्रयोग से पूर्व प्रयोगकर्ता में जो बुद्धि होती है वह शब्द के माध्यम से गृहीता को पहुंच जाती है। इस प्रकार कुशल कवि की मूल अनुभूति में कोई लक्षित परिवर्तन नहीं होता; वह जितनी विशिष्ट (अथवा विशेष गुणों से सम्पन्न) होती है, प्रायः उतनी ही बनी रहती है। कवि की अनुभूति में तज्जन्य आनन्द भी विद्यमान रहता है, और वह सब कुछ प्रायः उसी रूप में दर्शकों को प्राप्त

होता है। भरतमुनि के अनुसार सुमना प्रेक्षक विशिष्टता-युक्त स्थायिभाव का आस्वादन करते हैं; विशिष्टता-रहित स्थायी भाव का नहीं :

> नाना भावाभिनय-व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः (नाट्यशास्त्र ६.३१)।

क्या 'रस' 'आनन्द' का पर्याय है ?

नाट्य का विवेचन करते समय, भरत रस की निष्पत्ति रंगमंच पर नट, अभिनय, तथा अन्य उपकरणों के द्वारा करते हैं, जिनका स्वाद प्रेक्षक चखते हैं। किन्तु अभिनव गुप्त की मान्यता खटकती है। प्रथमतः वे अद्वैत के सहारे व्यवहार जगत् की वस्तु को बलात् अध्यात्म लोक में ले जाना चाहते हैं। इस प्रकार तो रस ही को क्या किसी भी वस्तु को उस लोक तक घसीटा जा सकता है। जीवः शिवः शिवो जीवः (स्कन्दोप०), ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः, आदि वाक्यों का दुरुपयोग किया जा सकता है। द्वितीयतः वे इसको आनन्द का पर्याय मानते हुए कहते हैं कि "रसो वै सः, रसं हि लब्ध्वा स आनन्दी भवति"। यह तैत्तिरीय उपनिषद् (२.७) का वाक्य है, जिसमें 'रस' का अर्थ है 'सार', जिसे आंग्ल भषा में एसेंस कहते हैं। सांख्यशास्त्र में रस तो तन्मात्रा अथवा ज्ञातृ-निरपेक्ष वस्तु मात्र का वाची है।[5] उक्त औपनिषद वाक्य का अर्थ है कि वह (परमात्मा) सार है, सार को प्राप्त कर जीव आनन्दित होता है। यदि यह अर्थ किया जाए कि "आनन्द को प्राप्त कर जीव आनन्द को प्राप्त होता है" तो इस में द्विरुक्ति दोष होगा। तृतीयतः अभिनव गुप्त ने 'रस' को चर्वणा का सार माना है; लगता है कि स्थायीभाव, उनके अनुसार, गंडेरी अथवा च्युइङ् गम है; किन्तु आनन्द में चर्व्यमाणता नहीं होती। चतुर्थतः अभिनव गुप्त ने रस के शृङ्गारादि प्रकारों को स्वीकार ही नहीं किया, अपितु किन्तु शान्त रस को उपस्थित भी किया है और रौद्ररस की चर्वणा को क्रोधमयी और रौद्र को क्रोधात्मक समझा है; इस विषय में उनके शब्द हैं : तेन हास्यवत् साधारण विभावत्वात् चर्वणापि क्रोधमय्येवेति तद् रसना चर्वणे रौद्रः क्रोधात्मक एव (अभिनव भारती, ६)। तो क्या आनन्द के भी प्रकार होते हैं; और जिस प्रकार रस के अङ्ग माने जाते हैं क्या उसी प्रकार आनन्द के भी अङ्ग माने जा सकते हैं। भरत के अनुसार तो रस मूर्त है, जिसकी निष्पत्ति रंगमंच पर होती हैं; वह आनन्द का पर्याय नहीं, रस आस्वाद्य है, आस्वाद नहीं।[6]

---

5 सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, पृष्ठ ६०।

6 वही, पृष्ठ ५९।

सहृदय

'सहृदय' शब्द 'सह+हृदय' इन दो शब्दों से बना है, जिसका अर्थ है समान हृदय वाला। इसमें 'सुमनाः' का अर्थ भी निहित है। 'हृदय' और 'मन' प्रायः पर्याय समझे जाते हैं। 'हृदय' की कल्पना 'मन' की अपेक्षा अधिक व्याप्त रही है। यजुर्वेद के अनुसार मन 'हृत्प्रतिष्ठम्' है। काव्य का प्रधान सम्बन्ध 'भाव' से है, जिसका अनुवाद 'थॉट' और 'फीलिङ्' दोनों से होता है, यद्यपि अधिकतर दूसरे से। भरत के इन शब्दों से कि 'स्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः···बुधाः आस्वादयन्ति मनसा' (ना० शा० ६.३१-३३), अर्थात् सुष्ठु मनवाले प्रेक्षक स्थायी भावों का स्वाद मन के द्वारा चखते हैं, 'सुमनसः' और 'बुधाः' दोनों शब्द ध्यान देने योग्य हैं। अतएव प्रतीत होता है कि भरत का आग्रह 'हृदय' की अपेक्षा 'मन' पर अधिक है। किन्तु 'हृदय' शब्द का प्रयोग भी उचित ही है। वाल्मीकि कहते हैं :

ह्लादयत्सर्व गात्राणि मनांसि हृदयानि च।
श्रोत्राश्रय सुखं गेयं तद् बभौ जन संसदि॥   रा० १.४.३३

काव्य सहृदयों के लिए होता है, इस उक्ति का तात्पर्य यह नहीं कि काव्य-विशेष के पात्र अथवा अधिकारी पठित-अपठित, नारी-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी हों। हां, यह भी ठीक है कि काव्य का विषय वे भाव हैं जो मनुष्यमात्र में समान होते हैं और इस दृष्टिकोण से काव्य के श्रवण-दर्शन के अधिकारी मोटे रूप से सभी लोग हो सकते हैं। साधारणीकरण के पश्चात् कोई भी सहृदय व्यक्ति काव्य का उपयोग उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार प्रसारित वार्ता (ब्रॉडकास्ट) की प्राप्ति 'रिसीविङ् सेट' ही कर सकता है। यह 'सैट' जितना उत्कृष्ट होगा, प्रसारित वार्ता भी उतनी ही सुस्पष्ट और प्रभावोत्पादक होगी।

तादात्म्य

अनेक प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने विभावादि समस्त अवयवों का साधारणीकरण माना है। परन्तु साधारणीकरण की प्रक्रिया में, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मत से किंचित् भिन्न विश्वनाथ के मत में आश्रय के साथ तादात्म्य का विशेष उल्लेख है, जिसने पं० रामचन्द्र शुक्ल को विशेष प्रभावित किया। जगन्नाथ पण्डित ने भी आश्रय के साथ सामाजिक का तादात्म्य माना है भले ही वह भ्रमवश उत्पन्न हुआ हो। डॉ० नगेन्द्र इस तादात्म्य को अस्वीकार करते हैं; क्योंकि, उनके मतानुसार, यह तादात्म्य कवि के भाव के साथ होता है।

इस विषय में, मैं दो कारणों से 'तन्मयता' को 'तादात्म्य' अथवा 'तल्लीनता' की अपेक्षा अधिक अच्छा समझता हूं। प्रथमतः जिस प्रकार मैथुन में आकर्षण-विकर्षण

ये दोनों क्रियाएं क्रमश: होती रहती हैं, उसी प्रकार काव्यानुभूति में संवेग और विचार दोनों का अविर्भावतिरोभाव क्रमश: होता रहता है। 'चर्वण' क्रिया में भी एकतानता का अभाव है, ऐसी स्थिति में क्षणिक 'तन्मयता' को तादात्म्य' कहना ठीक प्रतीत नहीं होता। द्वितीयत: मेरे विनम्र विचार में पाठक, श्रोता या द्रष्टा किसी भी काव्यानुभति से महत्तर होता है; अतएव ऐसी अनुभूति से उसका तादात्म्य बताना उचित नहीं। अभिनव गुप्त समझते हैं कि काव्य, सामाजिकों के प्रसुप्त भावों को जाग्रत कर, रस की निष्पत्ति कर देता है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वह सामाजिक के जन्मजन्मान्तर-प्राप्त प्रसुप्त विचारों को उद्बुद्ध नहीं कर देता, क्यों कि वेदान्त के इस सिद्धान्त के अनुसार कि 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' सभी सामाजिक ब्रह्म होने के नाते पूर्ण ही हैं, उनके लिए कोई भी बात नितान्त नवीन नहीं। इसलिए यह कहना कि सामाजिकों में केवल स्थायिभावों का जागरण होता है, मेरी विचारधारा में असंगत एवं अनावश्यक है। अतएव जीव के पारमार्थिक रूप की चर्चा न कर यदि हम व्यवहार-जगत की चर्चा के लिए जीव के व्यावहारिक रूप पर अधिक ध्यान दें तो ठीक होगा। व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक माना जा सकता है कि जीव में दोनों शक्तियां विद्यमान हैं—काव्य को प्रसारण करने की और उसे ग्रहण करने की। 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि कहते हैं कि प्रकाश की भांति शब्द में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दो शक्तियां होती हैं जैसा कि निवेदन किया जा चुका है। वस्तुत: श्रोतगण कवि की उस अनुभति को सहानुभति (सिम्पथि) के द्वारा ग्रहण करते हैं जिसमें भाव विचार, रस आदि पहले ही विद्यमान रहते हैं। उस रस की निष्पत्ति पाठकों, श्रोताओं अथवा सामाजिकों के मन में नहीं होती। पर इस में सन्देह नहीं कि उनमें इसके ग्रहण करने की शक्ति विद्यमान है, और वे निज शक्ति-सौष्ठव के अनुसार ही उस रस का अनुभव करते हैं जो काव्यानुभूति के साथ प्रसारित किया जाता है।

निष्कर्ष

संक्षेप में, मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि 'साधारणीकरण' शब्द के तीन अर्थ संभव हैं—मनोविज्ञानपरक, न्यायपरक और धर्मशास्त्र परक। काव्य-जगत् के लिए मैं उसका तृतीय अर्थ ही परम्परागत एवं सम्मत समझता हूं। इस प्रकार काव्य के 'साधारणीकरण' का अर्थ है कि कवि, अभिव्यक्ति के द्वारा, अपनी अनुभूति के सुमना सहृदय के लिए उपस्थित कर देता हैं। साधारणीकृत काव्यानुभूति कवि की निज सम्पत्ति होते हुए भी औरों की भी है; केवल उसकी नहीं और न केवल औरों की। अर्थात् काव्यानुभूति दोनों की होती है वक्ता की और श्रोता की भी। दो

घड़े रस के भरे, एक कहने वाले को और एक सुनने वाले को। 'साधारणीकरण' शब्द शक्ति के द्वारा होता है जिसके तीन रूप हैं अभिधा, भावकत्व, और भोजकत्व। इस विद्युत्कल्प शक्ति के द्वारा कवि की अनुभूति की यथावत् प्राप्ति उस पाठक, श्रोता अथवा द्रष्टा को हो जाती हैं, जिसके मन और हृदय, अनुभूति को ग्रहण करने के निमित्त, समान होते हैं। अनुभूति-ग्रहण के समय सामाजिक के हृदय की तन्मयता कवि की अनुभूति से होती है।

काव्य का असाधारण रस

★ डॉ० रामानन्द तिवारी

रस आत्मिक आन्तरिक अनुभव है । आत्मा अद्वैत है । वेदान्त में आत्मा के अद्वैत की निर्विकल्प स्थिति को परम सत्य माना गया है । यदि मम्मट के 'सद्यः परनिर्वृतये' को काव्य का प्रयोजन माना जाए तब तो यही स्वीकार करना होगा कि काव्य के रसिकों को भी निर्विकल्प आत्मिक रस का अनुभव होता है । किन्तु काव्य का यह प्रयोजन सर्वदा फलित नहीं होता । प्रायः पाठक और दर्शक काव्य अथवा नाटक के रस का सविकल्प रूप में अनुभव करते हैं । काव्य और नाटक के आस्वादन में इनके विशेष उपकरण बने रहते हैं । काव्य और नाटक के पात्रों के विशेष रूप तथा घटनाओं के विशेष सन्दर्भ रसास्वादन के घटक रहते हैं । रसिकों का अनुभव इस तथ्य को प्रमाणित करता है । यदि ऐसा न हो तो सभी रचनाओं का रस एकरूप हो जाएगा । निर्विकल्प रस में भेद नहीं हो सकता । तब रस के भेद असंगत हो जाएंगे; विभिन्न भावानुभाव विलीन हो जाएंगे ।

किन्तु न काव्यास्वादन में ऐसा होता है और न काव्य के आचार्य ऐसा मानते हैं । काव्य शास्त्र में अनेक रस और भाव माने गए हैं । विभिन्न विभाव, अनुभाव आदि से जिन रसों की निष्पत्ति मानी जाती है वे अनेक हैं । अनेकता विकल्पों के आधार पर ही संभव हो सकती है । सामान्यतः काव्यशास्त्र में भी काव्य के रस को एक और निर्विकल्प नहीं माना गया है । किन्तु साथ ही साधारणीकरण के सिद्धान्त में काव्य के प्रस्तुत विशेष विकल्पों का निराकरण करके साधारणीकृत विकल्पों को रस का आधार बनाया गया है । साधारणीकरण के द्वारा रस की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त ही अभिनवगुप्त के बाद रस का सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया । साधारणीकरण के सिद्धान्त की अवतारणा मूल पात्रों के रसानुभव को पाठकों अथवा दर्शकों में घटित करने के लिए तथा इस प्रक्रिया में सम्भव तादात्म्य के दोष को दूर करने के लिए की गई थी । व्यक्ति को अपनी सत्ता की इकाई में रस का आश्रय मानने के कारण रस-व्याख्या में ये कठिनाइयां उपस्थित हुईं और साधारणीकरण में इनका समाधान खोजा गया ।

किन्तु रसास्वादन का व्यक्तिवादी आधार और साधारणीकरण का समाधान दोनों ही भ्रान्तिपूर्ण हैं । रस का आश्रय व्यक्ति अपनी प्राकृतिक इकाई में नहीं होता ।

मनुष्यों के अद्वैत भाव में ही जीवन तथा काव्य दोनों में रस उदित होता है। यह अद्वैत अध्यात्म के अद्वैत की भांति निर्विकल्प नहीं होता। आत्मिक अद्वैत के साथ इसका साम्य इसी रूप में होता है कि इकाई के अहंकार के अतिक्रमण में ही यह अद्वैत उदित होता है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों ही रूपों में अद्वैत की स्थिति को बुद्धि अथवा कल्पना के द्वारा नहीं समझा जा सकता। अहंकार का अतिक्रमण ही उसका एक संकेत हो सकता है। निर्विकल्प अद्वैत की चर्चा भी असंगत है। वह अनिर्वचनीय है। भाषा और व्यवहार विकल्पाश्रित ही हैं। लौकिक जीवन के व्यवहार तथा काव्यास्वादन में रस का अनुभव होता है वह भी अद्वैत की स्थिति में ही होता है. किन्तु वह अद्वैत निर्विकल्प नहीं वरन् विकल्पयुक्त होता है। रस के भाव, पात्र आदि काव्य के रस के विकल्प हैं। अहंकार का अतिक्रमण कर आत्मिक साम्य में ही पात्र, पाठक. दर्शक आदि रस का अनुभव विशेष विकल्पों के निमित्तों के द्वारा करते हैं। ये विशेष निमित्त ही रस को विशेष रूप देते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने 'भग्नावरणाचित्' के अवच्छेदक के रूप में रस के इन विशेष निमित्तों को स्वीकार किया है। पंडितराज का मत सिद्धान्ततः सत्य है, यद्यपि काव्यशास्त्र में स्वीकृत सभी अवच्छेदक रस के उपकारक नहीं हो सकते। भय, क्रोध आदि अद्वैतभाव के विघातक निमित्तों का रस में अन्वय नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से काव्यशास्त्र की रस व्यवस्था बहुत भ्रान्तिपूर्ण है। अद्वैतभाव के अनुरूप निमित्तों के आधार पर ही रस की संगत व्याख्या हो सकती है। किन्तु रस की व्याख्या अन्ततः विशेष निमित्तों के आधार पर ही होगी। साधारणीकृत स्थायीभाव को रस मानना गलत है। सभी स्वीकृत स्थायीभाव रस के आधार नहीं बन सकते। फिर स्थायीभाव के साधारणीकरण का रस-व्याख्या में अवलम्ब लेना कई प्रकार से असंगत है। साधारणीकरण बौद्धिक व्यापार है। सामान्य बुद्धि के कर्म हैं। बुद्धि नीरस है। वह रस का माध्यम नहीं बन सकती। प्राकृतिक दृष्टि से निमित्त विशेष होते हैं। आत्मिक रस निर्विकल्प होता है। साधारणीकरण ने दोनों के बीच में रस की स्थिति स्थापित करने का प्रयत्न किया। किन्तु व्यक्तियों की इकाइयों पर आश्रित रहने के कारण रस की यह स्थिति प्राकृतिक ही बनी रही। इस व्याख्या में स्थायी भावों के विशेष रूप भी बने रहे। केवल रस के विशेष आश्रय सामान्य बन गए। किन्तु साधारणीकरण से रस की प्राकृतिकता कम नहीं हुई वरन् बढ़ी। सामान्यता प्रकृति का लक्षण है। प्राकृतिक भावों में पात्रों का पर्याय संभव है। साधारणीकरण के द्वारा इसी पर्याय को संभव बनाया गया है। सीता आदि को सामान्य स्त्री बनाकर रस के पात्र के साथ दर्शक अथवा पाठक का तादात्म्य इसी पर्याय के द्वारा होता है।

पर्याय का यह सिद्धान्त योरोपीय साहित्य शास्त्र में समानुभूति के नाम से विदित है। कुछ रसिकों के सम्बन्ध में यह घटित हो सकता है। किन्तु यह काव्य को रसानुभूति का साधन तथा रस को व्यक्तिगत अतः प्राकृतिक बना देता है। यह रस की समीचीन व्याख्या नहीं है। रस मूलतः आत्मिक है और अद्वैतभाव की स्थिति में उदित होता है। आध्यात्मिक अद्वैत निर्विकल्प हो, किन्तु अहंकार के अतिक्रमण के द्वारा लौकिक जीवन में भी अद्वैत रस का स्रोत बनता है। काव्य के रस का आस्वादन भी इसी अद्वैत की स्थिति में होता है। इस अद्वैतभाव में रस के विशेष निमित्त बने रहते हैं। उनका साधारणीकरण न आवश्यक है और न उपयोगी। यह साधारणीकरण काव्य की रचना के विशेष रूप को निष्फल बना देता है। फिर साधारणकृत निमित्त सामान्य होते हुए भी विशेष विकल्पों के रूप में रहते हैं। अतः साधारणीकरण भी रस को अध्यात्म की निर्विकल्प स्थिति तक नहीं पहुंचाता।

अतः काव्य के विशेष विकल्पों को सुरक्षित रखकर ही रस की व्याख्या करना उचित है। इस व्याख्या के लिए साधारणीकरण अनावश्यक है। काव्य के विशेष निमित्तों के संदर्भ में पाठकों अथवा दर्शकों का पात्रों के साथ अद्वैतभाव ही रस का स्रोत है। इस अद्वैतभाव के अनेक रूप हो सकते हैं। केवल अहंकार का अतिक्रमण इसका सामान्य लक्षण होगा। अद्वैतभाव के अनुरूप विभाव, स्थायीभाव आदि रस के अनुग्राहक होंगे। विशेष निमित्तों में घटित काव्य का यह रस साधारणीकृत स्थायी-भाव नहीं वरन् असाधारण और अनिर्वचनीय होगा। विशेष निमित्तों की सुरक्षा तथा अहंकारातीत अद्वैतभाव की सीमा तक ही इस अनुभवगम्य रस का सकेत किया जा सकता है।

रस-सुखदुःखात्मक ?

★ डॉ० सत्यकुमार चन्देल

आत्मा में आनन्द की स्थिति है या नहीं, यह सर्वथा विवादपूर्ण है। अनेक दार्शनिक आत्मा को सत्-चित-आनन्द स्वरूप तत्त्व मानते हैं। प्रस्तुत लेख में आत्मा की आनन्द रहित अवस्था को मान्यता दी गई है।—सं०

भरतप्रतिपादित रस

भरत ने ही सर्वप्रथम अपने 'नाट्यशास्त्रम्' ग्रन्थ के अन्तर्गत, नाटक के सन्दर्भ में, अपनी रसविषयक मान्यताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'अत्राह—रस इति कः पदार्थः उच्यने—आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथाहि नानाव्यञ्जन-संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनय व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः[1]'। 'अर्थात् रस कौनसा पदार्थ कहा जाता है? आस्वाद्यमान अर्थात् रस्यमान होने से रस कहा जाता है। रसास्वादन किस प्रकार किया जाता है? उत्तर—जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खानेवाले पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं इसी प्रकार नाना प्रकार के (विभाव अनुभाव आदि रूप) भावों और अभिनयों के द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक, आंगिक और सात्त्विक (मानस) अभिनयों से युक्त स्थायिभावों को सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं'। भरत की इस मान्यता से ये निष्कर्ष निकाल लेना कठिन नहीं कि १. रस वस्तुनिष्ठ अर्थात् विषयनिष्ठ अनुभूति है; २. रस आस्वाद्य है: तथा ३. रस सुख-दुःखात्मक अनुभति है। इस सम्बन्ध में किञ्चित् विचार की अपेक्षा है।

रस विषयनिष्ठ अनुभूति है

रसानुभति के आधार नाटक का सम्बन्ध सर्वप्रथम नाटककार से है। तदुपरान्त नट कुशल अभिनय के द्वारा नाटक को, नाटककार की भावना का अनुकरण करते हुए, रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। तब कहीं प्रेक्षक उसका आस्वाद कर पाता है और आलोचक की स्थिति सब के पश्चात दृष्टिगत होती है। सहृदय प्रेक्षक, जिस रस का आस्वाद करता है नाटककार अपने नाटक में सर्वप्रथम उस का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में, प्रेक्षक नट के माध्यम से नाटककार की भावना का आस्वाद करता है। यदि नाटककार रसावयवों का अपने नाटक में निर्माण न करता

---

1 दे० भरत कृत 'नाट्यशास्त्रम्' डॉ० रघुवंश द्वारा संपादित, पृष्ठ ३१७-१८

तो प्रेक्षक का रसास्वादन-व्यापार ठप्प हो जाता। यहां यह ज्ञातव्य है कि नाटककार अपने नाटक में रसावयवों का जिस रूप में निर्माण करेगा, प्रेक्षक रस के उसी रूप का आस्वाद करेगा, उससे भिन्न रस का नहीं।[2] प्रपानक का स्वाद निर्माता के कौशल पर पूर्णतः निर्भर करता है, न कि प्रपानक के स्वाद पर, और न केवल आस्वादक की रुचि पर। डॉ० नगेन्द्र ने रस के भरतप्रतिपादित रूप का उल्लेख कर विषयिनिष्ठ रस को महत्त्व देते हुए कहा है, "रस का स्वरूप द्विविध है—(१) विषयगत अर्थात् भाव की कलात्मक अभिव्यंजना=भावमूलक काव्यसौन्दर्य। (२) विषयिगत अर्थात् उक्त काव्य सौन्दर्य का आस्वाद। इनमें से पहला रूप मौलिक होते हुए भी तिरोहित हो गया—और अनुभूतिपरक रूप ही शेष रह गया। ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ हो, भरत का आशय जो भी रहा हो, भारतीय साहित्य एवं साहित्यशास्त्र में अभिनय-प्रतिपदित आस्वादपरक रूप ही अधिक मान्य हुआ। विषयगत अर्थ अर्थात् भरत का अभीष्ट अर्थ 'रस' के स्थान पर काव्य का वाचक बन गया। भाव की कलात्मक अभिव्यंजना रस नहीं—काव्य है; और इस प्रकार परिभाषित काव्य का आस्वाद रस है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस का प्रतिनिधि एवं परिनिष्ठित अर्थ अन्ततः यही मान्य हुआ[3]"। डॉ० नगेन्द्र के उपर्युक्त कथन में प्रकारान्तर से विषयिगत रस का ही पोषण किया गया है—और विषयगत को भावमूलक काव्यसौन्दर्य कहकर छोड दिया गया है। यह ठीक है कि भाव की कलात्मक अभिव्यंजना काव्य है, किन्तु रसानुभूति का आधार तो यही भावमूलक काव्य रहा है—इसी को पढ़कर सहृदय का स्थायीभाव जाग्रत और उद्दीप्त होकर आस्वाद्य बनता है। विषयिनिष्ठ रस का सम्बन्ध विषय से न होकर विषयी से होता है—विषयी विषय के माध्यम से रसास्वाद करता है, किन्तु विषयी के रसास्वादक होने के कारण रस को विषयिनिष्ठ नहीं माना जा सकता।

डॉ० नगेन्द्र ने रस को लौकिक—ऐन्द्रिय-मानसिक—अनुभूति माना है[4]। यहां यह कहना असंगत नहीं कि रस चाहे लौकिक—ऐन्द्रिय-मानसिक—अनुभूति हो अथवा आत्मा की अनुभूति; वह दोनों ही परिस्थितियों में विषयनिष्ठ ठहरता है, कारण, मन और इन्द्रियाँ आत्मा की अनुभूति का माध्यम हैं—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे-ज्ञानस्याभावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। यह कहना भी ठीक नहीं कि रस विषय के माध्यम से विषयी के आत्मानन्द का भोग है—वैसे तो आत्मा आनन्दमय नहीं है,

---

2 'नाट्यशास्त्रम्' पृष्ठ ३२०।

3 रससिद्धान्त' पृष्ठ ८५।

4 'रससिद्धान्त' पृष्ठ ११८।

विषयानुकूल अनुभूति ही उसे होती है, यदि विषय आनन्दप्रदान करनेवाला है तो आत्मा को आनन्द की अनुभूति होगी; और यदि विषय दुःखप्रदान करनेवाला है तो उसे दुःख का अनुभव होगा। भारतीय दर्शनों में आत्मानन्द जैसी कोई स्थिति स्वीकार नहीं की गई, हां, आनन्दमय परमात्मा के साहचर्य से आत्मा को आनन्द का भोग करनेवाला माना गया है। 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' पद द्वारा भी भरत का आशय विषयनिष्ठ से ही है, विषयिनिष्ठ से नहीं।

रस आस्वाद्य है

भरत ने अपने विवेचन में रस को आस्वाद्य पदार्थ माना है। ऐसी परिस्थिति में रस का स्वरूप पदार्थ के अनुकूल ही होगा उससे भिन्न नहीं। इस संदर्भ में डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता द्रष्टव्य है, "रस का अपने स्वरूप से अभिन्न रीति से आस्वादन किया जाता है इसका अभिप्राय यह हुआ कि रस मूलतः आस्वाद्य रूप ही है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं है—किन्तु फिर भी व्यवहार में 'रस का आस्वादन किया जाता है; ऐसा प्रयोग होता है। इस विरोधाभास को हृदयंगम करने के लिए अद्वैत सिद्धान्त की शरण लेनी होगी। अद्वैत दर्शन के अनुसार केवल एक आत्मतत्त्व की ही सत्ता है—तत्त्वतः यह आत्मा आनन्दरूप है, आनन्द इसका स्वभाव है, भोग्य पदार्थ नहीं।"[5] इससे यह स्पष्ट है कि रस आस्वाद्य (आस्वाद्य पदार्थ) है आस्वाद नहीं, कारण, इसको 'आस्वाद' मानने के लिए वे अद्वैत दर्शन की आत्मा को आनन्दमय मानने वाली धारणा की खोज करते हैं। वस्तुतः एवं तत्त्वतः आत्मा आनन्दमय नहीं है उसे सुख-दुःख प्रदायक निमित्त से सुख-दुःख की अनुभूति होती हैं—'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्।' वैदिक दर्शनों में आत्मा का यह रूप प्रतिपादित किया गया है और अद्वैत दर्शन में प्रतिपादित आत्मा का आनन्दमय रूप अशुद्ध है, कारण, न्याय, वैशेषिक' और 'वेदान्त' जैसे प्रामाणिक और वैज्ञानिक दर्शनों के अन्तर्गत आत्मा के आनन्दमय रूप का निषेध किया गया है। 'तैतिरीयोपनिषद्' में भी केवल ईश्वर को आनन्दमय माना गया है; इसमें कहीं भी आत्मा के आनन्दमय रूप का निर्देश नहीं किया गया—

१) आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।२।६

२) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।३।६

३) सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति।
एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रमति।२।६ (तैत्तिरीयोपनिषद्)

5 'रससिद्धान्त', पृष्ठ ८८।

—इन औपनिषदिक उद्धरणों से स्पष्ट है कि ब्रह्म (ईश्वर) ही आनन्दमय है—आत्मा नहीं । 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रमति'—इस उपनिषद्-वाक्य के अन्तर्गत आत्मा के आनन्दमय रूप का अत्यन्त निषेध किया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि इसके आस्वाद-रूप को पुष्ट करने के लिए आत्मा के आनन्दमय रूप की खोज के लिए प्रयत्न किया गया अन्यथा आत्मा का सुख-दुःखात्मक रूप वदिक दर्शनों में पूर्णतः सुरक्षित है ।

यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाए तो यह कहना अलम् होगा कि भोज्य-पदार्थों में—मीठा, कड़वा, नमकीन, तिक्त, कसैला और खट्टा—इन छः रसों का उल्लेख किया जाता है। यदि हम रस को आस्वाद्य मानें तब तो इनका मूल रूप सुरक्षित रहेगा, और यदि रस को आस्वाद माना जाये तो मीठे को छोड़कर कोई भी रस आस्वाद रूप तक न पहुंच पायेगा, या फिर मीठे में ही अन्य पांच रसों का अन्तर्भाव करना पड़ेगा। इसको आस्वाद-रूप माननेवाला कोई भी विद्वान् कडवे को मीठा या आनन्ददायक नहीं कहेगा—साथ ही खट्टा, नमकीन, तिक्त और कसैला भी उसी कोटि में आयेंगे। जब हम व्यावहारिक जीवन में इन षड्-रसों का स्वाद लेते हैं—तब भी हमारी आत्मा को ही उनका अनुभव होता है किसी अन्य को नहीं, और किसी प्रकार का व्यतिक्रम उपस्थित नहीं होता। यहां काव्यजन्य तन्मयता के आधार पर व्यावहारिक जीवन के कड़वे रस के स्वादवाली धारणा को काटा जा सकता है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि कड़वे रस की लौकिक अनुभूति और तन्मयतायुक्त काव्यानुभूति—दोनों ही आत्मा की अनुभूतियां हैं और इन्द्रिय-संयुक्त मन के माध्यम से आत्मा तक पहुंचती हैं। इस तन्मयतायुक्त काव्यानुभूति का, रस को आनन्दपरक माननेवालों की धारणा के अनुसार, आनन्द में रूपान्तरण कैसा ? आत्मा को विषय से हटकर या उसके प्रतिकूल अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि मन-संयुक्त इन्द्रियां जिस दृश्य को जिस रूप में देखेंगी आत्मा पर उसका प्रभाव उसी रूप में पड़ेगा। इससे सिद्ध है कि रस आस्वाद्य होता है आस्वाद नहीं, क्योंकि आस्वाद मानने पर रस विषयिनिष्ठ हो जाता है और विषयी विषय से विमुख होकर अपनी ही भावनाओं का आस्वाद करेगा, जिससे कवि या नाटककार के मन्तव्य की पूर्ण उपेक्षा हो जायगी ।

रस को आस्वाद-रूप मानकर यह भी कहा जाता है कि भावमूलक काव्य-सौन्दर्य के द्वारा विषयी की भावनाएं जाग्रत और उद्दीप्त हो जाती हैं, तदनन्तर वह विषयी अपनी ही भावनाओं (आत्मानन्द) का भोग करता है। यहां एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उभर कर सामने आता है कि भावमूलक काव्यसौन्दर्य के माध्यम

से विषयी की भावनाएं जाग्रत और उद्दीप्त हो जाती हैं और वह उनका आस्वाद करने लगता है तो क्या विषयी के रसानुभवकाल में उक्त भावमूलक काव्यसौन्दर्य की भूमिका विद्यमान रहतों है अथवा तिरोहित हो जाती है ? यदि भावमूलक काव्य-सौंदर्य की भूमिका विद्यमान रहती है तब तो रस विषयनिष्ठ रहेगा—और उस भावमूलक काव्यसौंदर्य के आधार के समाप्त होते ही रसानुभव भी तिरोहित हो जायगा। नाट्य प्रेक्षण में जब हम किसी दृश्य विशेष की अनुभूति करते हैं, तभी उसके अनुकूल भाव जाग्रत होते हैं और वह दृश्य-व्यापार चलता रहता है, हम उस दृश्य-व्यापार के प्रेक्षण से विमुख नहीं होते—और उसे देखते रहते हैं तभी रसानुभव होता है अन्यथा मन में विक्षेप आने पर किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं। यदि यह मान लिया जाय कि रसानुभव-काल में भावमूल काव्यसौन्दर्य को भूमिका भाव-जागति और भावोद्दीपन के अनन्तर तिरोहित हो जाती है, तो यह 'उक्त भावमूलक काव्यसौंदर्य' का आस्वाद न होकर प्रेक्षक की अपनी ही भावनाओं का आस्वाद होगा—जो कि नाट्य-काव्य से सर्वथा भिन्न होगा। ऐसे रसास्वाद के लिए नाट्य प्रेक्षण और काव्य पढ़ने की आवश्यकता नहीं—प्रेक्षक बिना किसी आधार के भी अपने आत्मानंद (?) का भोग कर सकता हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि नाट्य प्रक्षण में रसास्वाद करते समय 'भावमूलक काव्यसौंदर्य' या नाट्य सौंदर्य की भूमिका कभी तिरोहित नहीं होती—स्मृति के माध्यम से रसास्वाद इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसके अन्तर्गत पूर्वानुभूत दृश्य की भूमिका विद्यमान रहती है और रसास्वाद में वह अपना सक्रिय और अपरिहार्य योग देती है।

रस सुख-दुखात्मक अनुभूति है

भरत की रसविषयक मान्यता से तो रस की सुख-दुःखात्मकता ही व्यंजित होती है, कारण, जब वे यह कहते हैं कि 'सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाविगच्छन्ति' तो वे हर्ष और हर्ष के विरोधी अर्थात् दुःख का संकेत करना चाहते थे अन्यथा भरत के समक्ष दूसरा विकल्प यह भी था कि वे अभिनवगुप्त की भांति 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' पद के स्थान पर 'हर्षांश्चाधिगच्छन्ति' पद का प्रयोग सहज ही कर सकते थे; किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसलिए इतना तो निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि भरत अभिनव गुप्त की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली थे—कारण, एक तो भरत ने ही सर्वप्रथम रससिद्धान्त प्रस्तुत किया। दूसरे उन्होंने अभिनव गुप्त की रसविषयक मान्यताओं की व्याख्या नहीं की अपितु अभिनव गुप्त ने ही अपने 'अभिनव भारती' ग्रंथ की रचना 'नाट्यशास्त्रम्' की व्याख्या के लिए की है इन दोनों आधारों पर भरत का कथन अभिनव की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और तर्कसंगत है। भरत ने

'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' पद कुछ सोच समझकर ही रखा है—इसलिए इस पद की कोई भी व्याख्या जो भरत के सिद्धान्त से मेल नहीं खाती, स्वीकार नहीं की जा सकती। इधर आधुनिक आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र ने 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' पद पर टिप्पणी करते हुए कहा है, "जिस प्रकार व्यंजनादि से संस्कृत अन्न के आस्वाद की मानसिक प्रतिक्रिया हर्षादि—अर्थात् हर्ष या हर्ष की ही कोटि के अन्य प्रीतिकर विकारों—तृप्ति आदि के रूप में होती है—हर्ष के विपरीत दुःख, क्षोभ आदि अप्रीतिकर विकारों के रूप में न होती है और न हो सकती है, इसी प्रकार रसास्वाद का अनुभूत्यात्मक रूप आनन्दमय ही होता है—दुःख, क्षोभादि रूप न होता है और न हो सकता है। जब तक उक्त प्रसंग में यह न मान लिया जाय कि स्वादिष्ट भोजन किसी प्रकार भी अप्रीतिकर हो सकता है तब तक रसास्वाद को अप्रीतिकर मानने का कोई कारण नहीं"[6]। यहां यह स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र ने 'हर्षादि' पद से हर्ष और हर्ष की ही कोटि के अन्य प्रीतिकर विकारों तृप्ति आदि का अर्थ लिया है। क्या तृप्ति आदि का संकेत हर्ष से नहीं मिलता ? यदि मिलता है तब उसके निर्देश के लिए 'आदि' पद की आवश्यकता नहीं और नहीं मिलता तो 'हर्ष' के साथ ही तृप्ति और प्रीति का निर्देश भी भरत को करना चाहिए था किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे हर्ष के ही अन्तर्गत प्रीति और तृप्ति को भी मानते हैं, कारण जो दृश्य हर्ष प्रदान करेगा उससे तृप्ति होगी और प्रीति भी होगी ही। यहां 'आदि' पद से भरत का अभिप्राय तृप्ति नहीं—इतना निश्चित है, कारण, उन्होंने जिस विषयनिष्ठ रस का प्रतिपादन किया है उसके संदर्भ में 'आदि' रस से हर्ष और हर्ष की कोटि के भावों को ग्रहण करना असंगत नहीं। दूसरे जब डॉ० महोदय यह कहते हैं कि रसास्वाद को तब तक अप्रीतिकर नहीं माना जा सकता जब तक किसी प्रकार यह न मान लिया जाए कि स्वादिष्ट भोजन किसी प्रकार अप्रीतिकर हो सकता है—उत्तर में निवेदन है जो 'सुमनसः पुरुषाः। सुमनसः प्रेक्षकाः' नाट्यप्रेक्षण में दुःखद दृश्यों को देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं तो क्या वही प्रेक्षक, लौकिक जीवन में, कड़वे रस के आस्वाद को आनन्दमय कह सकते हैं ? स्वादिष्ट भोजन के अतिरिक्त मानने में यहां क्या हेतु है ? जब स्वादिष्ट भोजन किसी भी परिस्थिति में अप्रीतिकर नहीं हो सकता तो कड़वा रस भी किसी भी परिस्थिति में न प्रीतिकर होता है और न हो सकता है अर्थात् जब तक कड़वे रस को आनन्दमय नहीं माना जाता तब तक शोक, भय, जुगुप्सा और क्रोध स्थायी भाव आलम्बन द्वारा जाग्रत, उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त, अनुभावों द्वारा व्यक्त तथा संचारियों द्वारा पुष्ट होकर आनन्दमय स्थिति में नहीं पहुंच सकते, क्योंकि आत्मा के सुख-दुःखात्मक रूप का संकेत किया जा चुका है।

6 'रस सिद्धान्त' पृष्ठ ९४।

यदि करुण-दृश्यों के प्रेक्षण से आनन्दानुभूति होने लगेगी तो यह मानवतावादी स्तर पर सर्वथा अव्यवहारिक होगा; कारण, व्यवहारिक जीवन में करुण दृश्य देखकर दुःखानुभूति उस व्यक्ति को होती है जो कि उस व्यक्ति विशेष के प्रति (जिसके यहां दुःखद घटना घटी है) सहानुभूति से युक्त होता है और इसके विपरीत जो व्यक्ति ईर्ष्या, द्वेष से अभिभूत होगा उसे उस दुःखद घटना से प्रसन्नता या आनन्द की अनुभूति होगी। तो क्या यहां हम यह मानलें कि सत्त्वोद्रेक से युक्त प्रेक्षक, प्रेक्षण करते समय सत्त्व की स्थिति में पहुंचकर, व्यक्तिगत राग, द्वेष और ईर्ष्या से अभिभूत रहता हैं ? यदि नहीं रहता तो फिर मेरे-पराये के सम्बन्धों से मुक्त होने पर प्रेक्षक में सहानुभूति (मानव मात्र के प्रति अपनत्व की भावना के कारण) की स्थिति के कारण दुःख की अनुभूति होनी चाहिये, कारण, अपने-पराये के सम्बन्धों से मुक्त होने पर प्रेक्षक-मानव विश्वमानव के साथ अपनत्व का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है—सम्पूर्ण मानव उसके अपने हो जाते हैं—तो क्या वह अपने इन मानवों के दुःख में आनन्द का अनुभव करेगा ? यह न तो वास्तविक जीवन में काम्य है और न काव्य में ही। यदि करुण दृश्य के प्रेक्षण से प्रेक्षक को आनन्द की अनुभूति होती है तो वह ईर्ष्या, द्वेष से सर्वथा मुक्त कहां हुआ ? फिर यहां तो सत्त्वगुण में ही विकार आ गया। कोई भी रस-विवेचक आचार्य, करुण रस के आस्वाद पर विचार करते समय, यह मानने के लिए उद्यत न होगा कि सत्त्वोद्रेक की स्थिति में भी प्रेक्षक ईर्ष्या-द्वेष मे अभिभूत रहता है। इनसे युक्त होने पर ही हमें दुःख में आनन्द की अनुभूति हो सकेगी, कारण, लोक में ईर्ष्या-द्वेष से अभिभूत रहने पर हमें दूसरे की उन्नति में दुःख तथा अवनति में सुख का अनुभव होता है। सत्त्वोद्रेक की स्थिति के कारण प्रेक्षक का चित्त इतना विशद और निर्मल हो जाता है कि उस स्थिति में किसी करुण-दृश्य को देखकर दुःख का ही अनुभव होगा आनन्द का नहीं।

स्थायी भावों के मूल स्वरूप को ध्यान में रखकर यदि रस के स्वरूप पर विचार करें तो यह अत्यन्त स्पष्ट है कि नाट्य-प्रेक्षण से पूर्व प्रेक्षक किसी भाव विशेष युक्त होता भी है, नहीं भी होता। रंगमंच पर प्रस्तुत नाटक को देखकर प्रेक्षक सभी भावों से मुक्त हो जाता है किन्तु नाटक के द्वारा प्रस्तुत भाव को ही ग्रहण कर वह रसास्वाद करता है। यद्यपि प्रेक्षक नाट्य-प्रेक्षण के समय व्यक्तिगत भावों से मुक्त हो जाता है—उसके व्यक्तिगत भाव सामान्य बन जाते हैं अर्थात् उनकी विशेष स्थिति समाप्त हो जाती है—किन्तु ऐसा नहीं होता कि स्थायीभाव का मूल रूप ही बदल जाय। नायक के मानव-सुलभ गुणों के द्वारा प्रेक्षक के हृदय में जो 'आग्रहपूर्वक लगाव' की स्थिति जाग्रत होती है उसे हम रतिस्थायीभाव से पृथक् नहीं कर सकते हैं। इस

कें विपरीत जब प्रेक्षक खलनायक का अनीतिपूर्ण आचरण देखता है तो प्रेक्षक में द्वेष-घृणा मिश्रित क्रोध का भाव जाग्रत होता है जो विशिष्ट ही रहता है; कारण कि लोक में भी अनीतिपूर्ण आचरण लोगों में घृणा, द्वेष अथवा क्रोध के भाव को जाग्रत करता है। अस्तु, यदि यह कहना असंगत नहीं कि नाट्य-प्रेक्षक के द्वारा स्थायीभावों का मूल रूप नहीं बदलता, तो करुण दृश्य के प्रेक्षण से दुःख की ही अनुभूति होगी, आनन्द की नहीं।

हम चर्म चक्षु से केवल रूप का दर्शन कर पाते हैं, अन्वीक्षा दृष्टि से नाना प्रकार के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है और इनसे भिन्न दृष्टि-अन्तर्विलास से सौंदर्य को ग्रहण किया जाता है।

× × ×

सौंदर्य बोध के समय अन्य कोई ज्ञान ही नहीं रह जाता।

डॉ० दास—सौंदर्य तत्त्व

सन्त साहित्य में 'लोक' शब्द

★ डॉ० ओम् प्रकाश शर्मा

सन्तों ने लोक शब्द का प्रयोग केवल लोक कल्याण की भावना से किया है।

मध्यकालीन सन्त साहित्य कबीर से आरम्भ होकर तुलसी साहब हाथरस वालों के समय तक अनवरत रूप से चलता है। कबीर सम्प्रदाय में विभिन्न लोकों का वर्णन मोहम्मद बोध ग्रंथ में आया है। 'लोक' शब्द का प्रयोग नया नहीं है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में ही मिलने लगता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार 'लोक' का स्थान के अर्थ में एक प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में इस शब्द का प्रयोग दिव्य तथा पार्थिव के रूप में मिलता है। वाजसनेयी संहिता का प्रयोग भी समानार्थी प्रतीत होता है। यही प्रयोग ब्राह्मण ग्रंथों एवं वृहदारण्यक तक में है। प्रचलित लोकायत दर्शन का 'लोक' शब्द भी दर्शन के क्षेत्र में एक विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत करता है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में लोक धर्म प्रवृत्ति की चर्चा की गई है। मतंग मुनि कृत 'वृहदेशी लोकानां नरेन्द्राणाम्' का उल्लेख हुआ है। प्राकृत भाषा का 'लोअप्पवाय' लोक अपवाद तथा अपभ्रंश का (लोक जत्ता) लोक यात्रा के समानार्थी शब्द भी अभिन्न जान पडते हैं। अशोक के शिलालेखों में अनुवत्तरं सर्वलोक हिताय तथा 'नास्तेहि कम्पतरं सर्व लोक हिताय' के प्रयोग द्वारा लोक का विशिष्ट अर्थ संसारी के अर्थ में सूचित किया गया है। गीता में भी अनेक स्थानों पर लोक वेद तथा तीन लोक की चर्चा मिलती है।

आर्यों के आगमन पर आर्येतर जातियों से मुठभेड़ होने पर दो विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में व्यक्त हुई। फलस्वरूप वेद और वेदेतर की स्थिति स्पष्ट प्रकट हुई है। इससे एक और अन्य अर्थ की उद्भावना सहज ही प्रकट हो गई, जिसके अनुसार लोक का दूसरा अर्थ वेदविरोधी वेदेतर हुआ। वेद और लोक की भिन्नता ने वेद की प्रतिष्ठा के साथ लोक की स्वतंत्रता के महत्व को क्रमशः ही स्वीकार कर लिया है। किन्तु आज लोकतन्त्र के समय में लोक वेदेतर संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठ चुका है, जहां वेद की अपनी महत्ता है वहां लोक की अपनी परम्परा और अपनी विशिष्टता है लोक परम्परा में अपने शब्द हैं अपनी भाषा है अपनी लोक ग्रहि शैली है, लोक कहावत हैं वस्तुतः जिसे लोक संस्कृति की संज्ञा दी जाती है वह भी लोक से भिन्न नहीं है लोक का महत्व सर्वकालीन है, सर्वदेशीय है।

सन्तों ने इस लोक शब्द की महत्ता को प्रत्येक क्षेत्र में देखने का प्रयास किया है। संतों ने लोक रंगमंचीय विधाओं को देखा परखा है और उसका वर्णन भी अनेक स्थलों पर किया है। इसमें संदेह नहीं कि सन्तों में लोक में धर्म के या आध्यात्मिक विषयों के दर्शन के सिद्धान्तों का लोक जन में, साधारण जनता में समझाने के लिए जो प्रतीक, उपमा अलंकार व लोक कहावतों का प्रयोग किया है वह सब लौकिक ही है। सन्तों ने प्राचीन भारतीय दर्शन को जो उनके पहले तक केवल पंडितों, पुजारियों विद्वानों तक ही सीमित था साधारण जनता तक उसकी पहुच लाने का भरसक प्रयत्न किया है। सन्त वैसे तो शास्त्रीय ज्ञान या वेदों के ज्ञान से बिलकुल अनभिज्ञ थे परन्तु जीवन के अनुभव से लौकिक ज्ञान में पारंगत बन गए थे। उसी ज्ञान को साधारण भाषा में लोक जन के सामने लौकिक भाषा में रखने का प्रयास किया है।

सन्तों ने अपनी वाणी में लोक वाणी का वर्णन, लोक प्रतिमाओं का दिग्दर्शन, लोक कला संस्कृतियों की झांकी, लौकिक आचार परम्पराओं का वर्णन यहां तक कि साधारण लोक समाज की सम्पूर्ण झांकी लोक शब्द का प्रयोग करके कर दी है।

लोक शब्द का व्यवहार संतों ने अनेक अर्थों और संदर्भों में अपनाया है। इस के अध्ययन से सन्तों की लोक सम्बन्धी दृष्टि अधिक स्पष्ट हो जाती है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि सन्तों की साधना सामान्यत: आध्यात्मिक है या उसे पारलौकिक या अलौकिक ही कहा जा सकता है जो लोक के विपरीत ही होनी चाहिए। वास्तव में देखा जाय तो यह बात है भी सत्य, सन्तों का, फ़कीरों का लोक या संसार से क्या प्रयोजन ? उन्होंने तो सदा संसार त्याग पर ही बल दिया है, संसार त्याग, घरबार छोड़कर भीख मांगकर खाने को उन्होंने महत्व नहीं दिया वरन् गृहस्थ में रहकर ही लोक का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है, ऐसी सन्तों की मान्यता सदा से ही रही है। संतों ने लोक को माया है, भ्रम है, प्रपंच है, स्वप्न आदि ही माना है। इसलिए कबीर कहते हैं 'कामिणी नागिणी तीन्यू लोक मंझारि' यह संसार अर्थात् तीनों लोक काली नागनी मे लिपटा है (क०ग०पृ० ३०) परन्तु सन्तों की साधना पद्धति और जीवन दृष्टि में विचित्रता यह है कि इसमें ज्ञान के अनुभव का आधार इन्होंने इसी लोक का जीवन माना है। जीवन-लोक को त्याग कर आध्यात्मिक उपलब्धि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया है नानक कहते हैं 'इह लोक सुखीचे पर लोक सुहेले, नानक हरिपद आपहि मेले।'

परम्परा के सन्दर्भ में लोक शब्द का अर्थ संसार ही है और इस अर्थ में सन्त साहित्य में लोक शब्द की सब से अधिक व्याप्ति देखने में आई है। कबीर के सर्व लोक, लोक

पति, तीनों लोक में सभी लोक अथवा सम्पूर्ण लोक की भावना दृष्टिगोचर होती है। तुलसी साहब ने जगलोक कहकर उसे संसार के अर्थ में व्यक्त किया है। सर्व प्रचलित विश्व का विभाजन तीन लोकों का माना गया है—स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल। संत साहित्य में सारे विश्व के विभाजन को व्यक्त करने के लिए 'तीन लोक' कहने की प्रवृति अधिक मिलती है। सन्तों ने अनेक बार 'सरब लोक' कहकर भिन्न २ लोकों का उल्लेख किया है। 'सर्व लोक माइया के मण्डल' में तीन लोक का भाव और 'सब्बे सर्व लोक में गाजे' (गु०ग्र०म० ५:२१५) व्यापक सर्जन का भाव गुरु नानक देव ने बताया है।

कबीर साहब ने तीनों लोकों के अन्धकार के मिटाने का एक मात्र राम नाम रूपी हीरा ही निर्मोलक माना है। वे कहते हैं—

'राम नाम हिरदे धरि निर निर मौलिक हीरा।
शामो तिहुं लोक तिमिर जाय त्रिविध पीरा॥ (क०ग्र० १९७:३२१)

सन्त दादू ने भी इस लोक को तीन लोक ही कहा है। जिसमें माया ब्रह्म का मेल व्याप्त है।

माया ब्रह्म को मेल है तीन लोक विस्तार।
(सं० दा० २३:२२-२)

धरमदास जी भी कहते हैं

'राम नाम तिहु लोक में सक्ल रहा भरपूरि'
(धरम वा० ३० : १-२)

सन्तों ने तीन लोक को एक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत माना है। सम्पूर्ण सन्त साहित्य में तीन लोक वाची अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है—त्रिभुवन, त्रिलोक, त्रैलोक, तीनि लोक, तिहुं लोक, तीन्यू लोका आदि

सन्तों ने पौराणिक चौदह लोकों को अपनी वाणी में अनेक स्थानों पर स्वीकार किया है, परन्तु सन्त इन सभी लोकों को यमपुरी के लोक मानते हैं इन सभी लोकों से मुक्त होने के लिए सत्पुरुष के लोक की कल्पना संतों ने की है उस सत्पुरुष का लोक केवल गुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। दरिया साहब ने इस लोक को मृत्यु लोक मानकर सत् पुरुष के लोक की स्थिति को स्वीकार किया है। यह मृत्यु लोक बहुत ही दुःखदायी है, कहते हैं—

बहुत विषद मृत्यु लोक बसाया
मन रंभा रामे अरुझाया

सन्तों ने अपनी वाणी में इन्द्र लोक, अमर लोक, देव लोक, अनन्त लोक, शिव लोक, ब्रह्म लोक आदि का भी वर्णन किया है।

देव लोक में आसा राखे, आपु न चीन्हे झूठे भाखे।

गुलाल वाणी ३३९

अमर लोक को इन्हीं संतों ने स्वर्ग से भिन्न परमपद स्वीकार किया है, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि कबीर ने अमर लोक का वर्णन कहीं पर भी नहीं किया है वरना धरमदास और दरिया (वि०) वालों ने परम लोक को एक श्रेष्ठ लोक माना है। धरमदास इसी अमर लोक को बिना डोर रसरी का अगम स्थान मानते हैं और अपने गुरु कबीर की कृपा के द्वारा ही उस स्थान को प्राप्त करने की बात स्वीकार करते हैं

"साहिब लोक हंस के राजा अमर लोक पहुंचाओ"

(धरम दास २६:१६)

धरमदास जी इस अमर लोक को ऐसा मानते हैं जहां बारह महीने आनन्द का फल प्राप्त होता रहता है ऐसा अमर लोक है अवधु फारे बारहमासा।

(धरमदास ३०:१-२)

इसी लोक के लिए आत्मा रूपी हंस अपने शुद्ध स्वरूप में पयान करता है पल्टू दास भी अपने जन्म को इसी लोक में डेरा डालने पर सुखी मानते हैं। दरिया साहब भी इस अमर लोक को शोक से परे तथा निःशोक अगम सागर मानते हैं इसी परम्परा में तुलसी साहब अमर लोक में ही परम मोक्ष पद मानते है इसे वे अलौकिक स्थान बताते हैं। यह अमर लोक अनहद नाद के पार मानते हैं जैसे "अमर लोक एक अजर दूब, हद अनहद के पार खूब"।

(तु० साहब ३१:८)

सन्तों ने इस लोक की चर्चा अधिक की है और इस लोक के लिए उन्होंने अनेक नामों का प्रयोग किया है। इन नामों में बहुधा संत यह भी व्यंजित करना चाहते हैं कि यह लोक हमारे सम्पूर्ण ज्ञान से किस प्रकार परे है! चूंकि नानक देव दास्य-भक्ति भावना के अधिक निकट है इसी लिए वे इस लोक को हरि का लोक मानते हैं वे कहते हैं "हरि के लोक सि सांचि सुहैले" (नानक १५४:१२) इस लोक को सन्तों ने पूरा लोक माना है जो सभी लोकों से भिन्न और परे है। धरमदास विनवे करि जोरि पूरा लोक दियो" (धरमदास १:२) इसे कभी "पिता लोक" भी कहा है "पिता लोक आदि धाम" (वही० पृ० ४६७) बल देने के लिए सन्तो ने इसे "साईं लोक" "वही लोक" भी कहा है। भक्तों के समान सन्तों ने इसे अपने प्रभु के

निज लोक" की भी कल्पना की है। "धरमदास विनवे करि जोरि देहु निजलोक निवासा" (धरमदास १२:३) इस "अनश्वर लोक" को कहीं कहीं "अजर लोक" भी कहा गया है। तुलसी साहब ने इसे "धाय लोक', जिसकी स्थिति उन्होंने चौथी मानी है। इसी लोक में सन्त साधक अनहद नाद सुनता है अतएव इसे अगम अनहद नाद लोक भी कहा गया है।[1] दरिया इसे "निर्मल लोक" कहते हैं क्योंकि यहां साधक ब्रह्म तत्त्व से एक हो जाता है।[2] साधक इसी स्थान से अनहद ध्वनि सुनते हैं और परम पद प्राप्त करते हैं। "अगम अनहद लोक" को दरिया निर्भय लोक इस लिए भी कहते हैं कि यहां साधक निर्भीक होकर विचरण करता है। और आत्मा के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करता है इसीलिए निर्भीक हो जाता है। दरिया विहार वाले इसे "क्षय लोक" भी कहते हैं जो समस्त ज्ञानात्मक लोकों से परे है जहां जाकर फिर वापस नहीं आना होता[3] गीता में जिसे कहा गया है 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम" अन्तिम सत्य रूप में स्वीकार करने के कारण सन्त इसे 'सतलोक' भी कहते हैं।[4] कबीर तथा धरमदास सन्त लोक को परम लोक के रूप में सबसे अधिक स्वीकार करते हैं।[5] हंस अकेला परमपुरुष के पास सतलोक में जाता है इसी का दूसरा नाम 'सत्यलोक' भी प्रयुक्त हुआ है।[6] तुलसी साहब में सन्त लोक का विशेष महत्त्व गान है, उन्होंने लोकों की क्रम कल्पना का अत्यधिक महत्व दिया है। इसीको सन्तों ने अपना लोक अर्थात् 'सन्तलोक' माना है। इसी को सन्त 'अनन्तलोक' माना है "अनन्त लोक उदित जाके अकथ कथ भारी।[8]

आगे लोक शब्द का प्रयोग साधारण संसार के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है यहां विश्व के विभाजन की दृष्टि नहीं बल्कि विश्व के वर्णन की दृष्टि है। "नाव मेरी डूबी रे भई ताते चढी लोक बढाई"[9] यहां ऐसे स्थलों पर लोक व्यापक संसार अर्थात् सांसारिकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "लोक कहे यह भरम भुलाना"[10]।

शेख फ़रीद जब "लोका आयो आपणी में आपणी पाई" कहते हैं तब उनका भाव, लोक के व्यापक संसार से ही है जिसमें संसार के लोग भी आ जाते हैं। इस अर्थ में इस शब्द का सन्तों ने व्यापक प्रयोग किया है– "लोक बोले इकताई हो" अथवा लोक पाये लगाई" (क० १०४:५०)।

---

1 गरीबदास १९:१२, ६१:१३८, १८:५; 2 दरिया बि० १५४:२;
3 दरिया बि० ६४:१; 4 गु० १६६:४४२; 5 धरम ३६:१२, ५;
6 सू० ग्र० २०६:७; 7 तु० ७०:२२; 8 गु० १५२:३१
9 रै० ४:५; 10 ३०:१७

लोक के साथ वेद शब्द का बहुत व्यापक प्रयोग सन्तों के साहित्य में मिलता है। यहां लोक का अर्थ वेद के प्रतिकूल लोक परम्परा से है। वेद का अभिप्राय शास्त्र की मर्यादा से है और लोक का अर्थ जनता में प्रचलित परम्परा से है। कबीर लोक को 'लोक वेद' की परम्परा में बहता हुआ बताते हैं और सत्गुरु को ही उद्धारक मानते हैं।

पीछा लागा जाइ था लोक वेद के साथ,
आगे से सत्गुरु मिला दीपक दीया हाथ।

(क० १:११)

कबीर 'लोक वेद' दोनों परम्पराओं से बिछुड़ने पर ही शून्य में समाहित होने की स्थिति मानते हैं। (क० १३७:५०)। भीखा भी दुनिया को लोक वेद के मत में स्थापित मानते हैं। (भी० १२८:१६१)।

गुलाल साहब भी लोक वेद में संसार को अटका मानते हैं। सन्त पल्टू के अनुसार सन्त साधक के लिए यह मार्ग चलना सम्भव नहीं है 'लोक वेद की राह हमसे चला नहीं जाई' (प० १ : ९२)

बुल्ला साहब भी सन्त को 'लोक वेद से न्यारा ही मानते हैं'।

(बु० २८ : ७५)

वस्तुत: लोक वेद दोनों ही ज्ञान की जो परम्पराएं हैं उनसे 'सत्य का अगम अपार अनुभो है। (गु० ३५ : ९५) पर जन्म लेने वाले प्राणी को लोक-वेद ऐसे घेरे रहता है कि वह उसी में नष्ट हो जाता इधर उधर कहीं नहीं जा सकता जो इनसे छूट जाता है वही परमपद को प्राप्त होता है वही लोक का मार्ग दर्शक हो जाता है महापुरुषों का यही उदाहरण है एक नहीं अनेक है। लोक वेद की यह फांसी आठ पहर लौ लगाने से ही छूट सकती है। (गु० १५२ : ३३)

इसी प्रसंग में लोक परलोक के प्रयोग पर भी विचार किया जा सकता है। यहां लोक, सांसारिकता के अर्थ में परलोक आध्यात्मिकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो लोक का है संसार का है और जो परलोक का है वह आध्यात्मिक है। लोक के भाव को स्पष्ट करने के लिए सन्तों ने इस लोक भी कहा है। यहां यह भी स्मरण रखने की जरूरत है कि परलोक कोई सातवें आसमान पर स्वर्ग लोक नहीं है। सन्तों ने इसे आध्यात्मिक उपलब्धि स्वीकार किया है। 'जागे से परलोक बनता है' में यही भाव है ब्रह्मचेतना का है उस ज्ञान नेत्र को सदैव खुले रखने का है जिसमें भगवान् शंकर ने कामदेव को भस्म कर दिया था। जागने का अर्थ उसी तीसरे नेत्र

को सदैव खुला रखने से है। गुरु नानक देव भी उसी ज्ञान नेत्र को खुला रखने का संकेत स्थान स्थान पर करते हैं। यही अनहद लोक है। तुलसी साहब के अनुसार जीव अपने कर्म बन्धन से परलोक को हंसाता है अर्थात् परलोक को बनाता है (तु० १२७ : १६) कबीर इसी लोक को लोका पार्थ भी कहते हैं। उनका भाव यहां साधारण जीव की सांसारिक प्रवृत्ति से है नानक ने इसे ही लोक मत कहा है। (गु० ग० ३५८ : ४)

लोक का एक सामान्य अर्थ माया का है जो केवल साधारण सांसारिकता के निकट ही है यहां सांसारिकता के साथ प्रपंच की व्यंजना भी है। गुलाल के अनुसार इस 'लोक पसारा' में अहंकारवश जीव नष्ट हो रहा है 'हम हमार करि लोक सभाई अपनी सुधि कबहिं नहीं आई' आगे कहते हैं कि इस लोक पसारे में कर्म त्याग करना सहज नहीं है कबीर भी कहते हैं 'लोका जानि न भूलहु भाई' कहकर माया के प्रपंच से सदैव सतर्क रहने का संकेत करते हैं। माया में या लोक में फंसकर फिर निकलना दुःसाध्य है।

कभी कभी सामान्य सांसारिकता से अधिक स्पष्ट जन साधारण अथवा लोक समाज के अर्थ में भी सन्तों की वाणी में 'लोक' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'बोड़न हमरे रूक पछेवरा, लोक बोले इकताई हो' (क० ग्र० १०४ : ५०) लोक पूजावाही घर घर जाहि दोजक कारण भिश्त गावहि अथवा 'याही मता लोक मन माना, अरुझि रहा सब महि" यहां लोक का अर्थ जन समाज ही अधिक है और व्यापक रूप से इसी को संसार भी कहा जाता है। इसी के साथ सन्तों में 'लोक लाज' 'लोकाचार' तथा लोक पचारा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसके अर्थ में सामाजिकता का भाव अधिक हैं। सन्तों ने लोक समाज को अधिक महत्व दिया है और अपनी शक्ति से लोक समाज को एक नया मोड भी दिया है। इस 'लोक लाज' अर्थात् साधारण सामाजिक मर्यादा को सन्त सत्य नहीं मानते—"कबीर लज्जा लोक की समिरे नाहि सांच" कबीर कहते हैं कि इस लोक लाज को छोड़ना ही पड़ेगा मीरा ने भी लोक लाज सब छोड़े तभी परमपिता परमात्मा को प्राप्त किया है। कबीर आगे कहते हैं—

"लोक लाज कुल की मरजादा तोरि दियो जस धागा। (क० ग्र० १६:६)

आध्यात्मिक साधना मार्ग के पथिक सन्त कबीर कहते हैं "लोक लाज नहीं कीजिए" दरिया बिहार वाले कहते हैं—

"लोक लाज सकल कुल गारी,
तोरि डारी सब जग परचारी। (दरिया वि० ४२:४)

पल्टू कहते हैं "लोक लाज तोड़े नहीं पलटू चाहे राम (पलटू ३:११६)
भीखा का कहना है "लोक लाज कुल कर्म सतैया मन डूबत नहि राखि लिवैया"
और इसी प्रकार मलूकदास, भीखा साहब, तुलसी साहब धरनी आदि भी लोक लाज
को सन्तों के लिए त्याज्य ही मानते हैं। वस्तुत: समाज की मर्यादा सीमा को
दृष्टि में रखकर ये सन्त सभी अध्यात्म के उपासक हैं। कबीर लोक लाज के साथ
लोका चारु को भी छोड़ने का आग्रह करते हैं—"परिहरु लोभ और लोकाचारु"
(क० ७७:३)। वस्तुत: लोक की मर्यादा के अनुसार उसका आचरण भी निर्धारित
ही होता है। अत: सन्तों के लिए इस आचरण का भी कोई महत्व नहीं है। कबीर
लोकाचार को वेद शास्त्र के भिन्न मानते हैं। शास्त्रीय आचरण और लोक आचरण
का भेद भिन्न ही है।

सन्तों का मार्ग तो 'लोक वेद' से अलग है वे तो आध्यात्मिक जीवन के
आकांक्षी साधक ही रहना चाहते हैं परन्तु लोक में रहकर ही अपनी साधना करना
चाहते हैं लोक से बाहर जाकर नहीं लोक संसार छोड़कर कहीं हिमालय पर तपस्या
करके नहीं। हिमालय पर तपस्या करना तो सन्तों ने दम्भ माना है। एक
प्रकार की विडम्बना ही स्वीकार किया है उनका यह लोक ही साधना का क्षेत्र है।
वे घरबार छोड़कर कपड़े रंगाकर जटा बाल बढ़ाकर शरीर को रंगना नहीं चाहते
वे तो लोक में रहकर मन को रंगना चाहते हैं।

उनकी साधना व्यक्ति परक से अधिक मनुष्यपरक और व्यक्तिनिष्ठ के स्थान
पर समाजनिष्ठ है वैसे तो लगता है सन्त आध्यात्मिक जीवन को एक मात्र सत्य
मानते हैं। सन्तों की दृष्टि में लोक, समाज, व्यावहारिक जीवन आदि कोई महत्व
नहीं रखते परन्तु वे ऐसा मानते हैं कि मनुष्य को अपनी दृष्टि केन्द्रित रखने के कारण
साधना की भूमिका में उसे सम्पूर्ण लोक और सम्पूर्ण लोक समाज को स्वीकार करना
पड़ेगा। सन्तों ने लोक समाज को अपनी सहज साधना के लिए इस भूमिका को
अनिवार्य स्वीकार किया है।

सन्तों की मुख्य भावना संसार त्याग की नहीं। न ही निर्गुण सन्तों में कोई
घर बार छोड़कर भीख मांगता फिरता है। प्राय: ये सभी संत गृहस्थी थे। कबीर,
दादू, पलटू, रैदास, भीखा, गुलाल, नानक देव, रज्जव साहब, शेख फरीदी, गुरु
गोविन्द सिंह। ये तो जीवन में असंग रहने की भावना को लोक में प्रसारित करना
चाहते हैं। लोक में रहते कर्त्तव्य का पालन करते रहो, देश, राष्ट्र, समाज का कल्याण
करते चलो अपने अच्छे कर्मों से लोक को सुधार लो, परलोक अपने आप सुधर

जाएगा। इनकी दृष्टि में लोक दर्पण परलोक है। जैसा लोक होगा वैसा परलोक रूपी दृष्टि में जीवन दिखाई पड़ेगा।

उनका सिद्धान्त जीवन में ऐसे विरक्तों का सिद्धान्त भी नहीं था जो संसार को लोक को भयावह और प्रपंचमय मानकर त्याग देते हैं और आध्यात्मिक जीवन की खोज में संसार को भूल जाने का प्रयत्न करते हैं। यह एक प्रकार से पलायन का मार्ग है जिसे लोक में रहकर सन्तों ने स्वीकार नहीं किया है।

सन्तों के सम्पूर्ण जीवन के पर्यवेक्षण और अनुभव की सीमा यही लोक जीवन है। वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस लोक के जीवन का प्रत्येक कार्य खुशी खुशी करके अनुभव द्वारा लोक से छुटकारा प्राप्त करना है, लोक को छोड़कर नहीं। अनुभव ज्ञान को सन्तों ने जीवन तथा साधना दोनों के लिए स्वीकार किया है। उन्होंने अपने लौकिक जीवन को ही जो उनके चारों ओर था, अपना साधना केन्द्र रखा है जिसमें उनका लालन पालन हुआ है। शास्त्र ज्ञान की उन्होंने अवहेलना भी की है और लोक ज्ञान को अधिक महत्व दिया है उन्होंने आवाजये खलक को नक्कारये खुदा ही स्वीकार किया है।

कबीर, रैदास, नानक आदि सभी सन्तों ने शास्त्र, वेद, पुराण, कुरान आदि के परे तत्व ज्ञान को माना है। साधना को महत्व देने वाले सन्तों का क्षेत्र लोक ही रहा है। अपनी साधना का सामंजस्य इन्होंने लौकिक जीवन से किया है। इस स्थिति के कारण सन्त साहित्य में लौकिक जीवन, विश्वासों, मान्यताओं और परम्पराओं की पर्याप्त पीठिका ग्रहण करनी पडेगी।

सन्तों का लोक शब्द व्यापक लोक तत्व ही है। परम्परा से सिद्ध होता है कि जितना महत्व सन्तों ने अपनी वाणी द्वारा लोक को दिया है उतना पहले नहीं वैदिक परम्परा में तथा उपनिषद् काल में लोक की अस्वीकृति नहीं है। लोक साधना स्थल भी ऐसा नहीं माना जैसा सन्तों ने स्वीकार किया।

बौद्ध दु:खवाद के कारण बौद्ध धर्म में लोक त्याग की भावना विकसित हुई है। लौकिक जीवन से पलायन का मूल स्रोत भारतीय विचार धारा में यही माना जा सकता है कि इसके पूर्व भी यौगिक साधनाओं का विकास हो चुका था जिसमें लौकिक जीवन से अपने को अलग करके किसी आध्यात्मिक सत्ता में अपने को योगी लीन करना चाहता है, परन्तु सन्तों ने अपने आध्यात्मिक जीवन की आकांक्षा के पीछे लोक के त्याग की भावना को स्वीकार नहीं किया है, जबकि बौद्ध धर्म की

भावना में लोक को जीवन के दु:ख, क्लेश और क्षणिकता के कारण त्याज्य माना
हैं। सन्तों ने लोक को त्याज्य नहीं साधना का केन्द्र माना है।

संतों के भगवान् अवतार ग्रहण करके लोक कल्याण का मार्ग ग्रहण करते
उनके भगवान् इस लोक में अवतार लेकर मनुष्य समाज में लोक लीला करके
की मर्यादा स्थिर करते हैं।

सन्तों ने भारतीय लोक जीवन की व्यापक सांस्कृतिक चेतना को एक
ग्रहण किया है और आत्मसात् किया है और दूसरी ओर अपने युग में उ
संचरण भी किया है और लोक शब्द का प्रयोग करके लोक सांस्कृतिक जीवन
झांकी प्रस्तुत की है क्योंकि इन सन्तों में कोई भी सन्त उच्च वर्ण का नहीं था
से अधिकतर निम्न जाति के ही थे अधिक अक्षर ज्ञान से अनभिज्ञ थे। परन्तु
कृपा और श्रुति ज्ञान से अनुभव ज्ञान प्राप्त कर अपने आप अमर हो गए और
आस पास के लोक के सुधार करने का प्रयत्न अन्त समय तक करते रहे। तुलसी
लोक नायक राम की कथा सुनाकर लोक का कल्याण किया और स्वयं भी लोक
अमर हो गए।

भक्ति की परिभाषा और उसका स्वरूप

★ डॉ० सत्य नारायण शर्मा

'भक्ति' शब्द संस्कृत के 'भज् सेवायाम्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्र के अनुसार भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है। अतः इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—सेवा करना। किन्तु अल्पज्ञ एवं असमर्थ मानव में इतनी क्षमता कहां कि वह अखिल ब्रह्माण्डव्यापी परमात्मा की सेवा कर सके? इसीलिए महर्षि शाण्डिल्य ईश्वर में परानुरक्ति अर्थात् अपूर्व एवं प्रकृष्ट अनुराग रखने को ही भक्ति कहते हैं—"सा परानुरक्तिरीश्वरे"। वस्तुतः भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। यह अमृतस्वरूपा भी है। भक्तशिरोमणि नारद के मत में अपने समस्त कर्मों को भगवान् को समर्पित करना और उनका थोड़ा-सा भी विस्मरण होने पर परमव्याकुल होना ही भक्ति है—"नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।"

"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि "परमेश्वर की निरन्तर उत्कण्ठायुक्त स्मृति ही भक्ति है।"[1] अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र की व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य भी परमात्मा की निरन्तर स्मृति को ही भक्ति मानते हैं।[2]

श्री मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार भागवत-धर्म सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति जो अविच्छिन्न वृत्ति है, वही भक्ति है।[3] उत्तम भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्री रूपगोस्वामी जी कहते हैं—

> अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
>
> —भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वभाग, पहली लहरी, श्लो० ११

अर्थात् जिस भक्ति में आराध्य के अतिरिक्त किसी अन्य की अभिलाषा न हो, जो ज्ञान तथा कर्म से आवृत न हो और जिसमें कृष्ण की अनुकूलता प्राप्त करते हुए उनका चिन्तन-मनन किया जाए, वही भक्ति उत्तम है।

---

1 ब्रह्मसूत्र, अ०४, पाद, १, सूत्र १ का शाङ्करभाष्य।

2 ब्रह्मसूत्र, अध्याय १, पाद १, सूत्र १ का रामानुज भाष्य।

3 भक्तिरसायन, प्रथम उल्लास, श्लोक ३।

स्वामी विवेकानन्द अपने भक्तियोग ग्रंथ में अनेकानेक आचार्यों एवं भक्तों की भक्ति संबंधी परिभाषाएं उद्धृत करने के पश्चात् अपना मत प्रस्तुत करते हैं—"......आध्यात्मिक अनुभूति के लिए किए जानेवाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा भक्ति है, जिसका प्रारम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में।"

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।" —चिन्तामणि, पहला भाग, 'श्रद्धा-भक्ति' निबन्ध।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भक्ति में सर्वप्रथम पवित्र प्रेम की प्रगाढ़ता अपेक्षित है। साथ ही निश्छल भाव से उस पवित्र प्रगाढ़ प्रेम का पूर्ण समर्पण प्रभु के चरणों में होना चाहिए। परिवार के प्रति, संसार के प्रति और विभिन्न विषयों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम संभव है परन्तु हम इन्हें भक्ति नहीं कह सकते। वस्तुतः ऐहिक आसक्तियों से परे भगवच्चरणों में परम पवित्र एवं निश्छल प्रेम की शुद्धानुभूति को ही भक्ति कहते हैं।

भक्तराज प्रह्लाद नृसिंह भगवान् से ऐसी ही भक्ति की याचना करते हैं—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

—विष्णु पुराण, प्रथम अंश, अ० २० श्लोक १९

अर्थात् "जैसी तीव्र आसक्ति अविवेकी पुरुषों की इन्द्रिय विषयों में होती है, उसी प्रकार की आसक्ति तुम्हारा स्मरण करते समय कहीं मेरे हृदय से चली न जाए।"

भक्तशिरोमणि तुलसी भी अपने रामचरितमानस में ऐसी ही भक्ति का अङ्कन करते हैं—

सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

मा०२.१४२.

वे स्वयं इसकी स्पृहा भी करते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

मा० ७.१३०(ख)

मनुष्य जो भी कार्य करता है, वह सुख पाने के उद्देश्य से ही। पर उसे सदा सुख नहीं मिल पाता। यथार्थतः मानव-जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख का ही आधिक्य है। दुःख इसलिए होता है कि मनुष्य चाहता कुछ है और हो जाता है कुछ और। मानव-जीवन में इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। समुद्र की लहरों के समान एक इच्छा की पीठ पर अनवरत दूसरी इच्छा उठती चली आ रही है। और सच तो यह है कि मनुष्य को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त साधन-संकलन करने में ही संलग्न रहना पड़ता है। जीवन का सच्चा सुख उसे क्षण भर के लिए भी प्राप्त नहीं हो पाता। गोस्वामीजी ने ठीक ही लिखा है—"डासत ही गई बीती निसा सब कबहुं न नाथ! नींद भरि सोयो।" वस्तुतः मानव को जो कुछ सुख की सामग्री उपलब्ध है, उसी से संतोष करके यदि वह अपनी प्रसुप्त आन्तरिक शक्तियों को उद्बुद्ध एवं विकसित करे तो वह सांसारिक कष्टों से बहुत हद तक मुक्त हो सकता है। पर ऐसा प्रशंसनीय प्रयास आधिभौतिक सुख की मृग मरीचिका में दौड़नेवाले आए दिन के मानव से नहीं हो पाता। वह अपनी आन्तरिक समृद्धि एवं ऐश्वर्य-वैभव का परित्याग कर बाह्य चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली नश्वर वस्तुओं की उपलब्धि में निरन्तर लीन रहकर अथक परिश्रम करते हुए कभी सुख एवं कभी दुःख प्राप्त किया करता है। अनकूल उपलब्धि सुख एवं प्रतिकूल उपलब्धि दुःख है। वस्तुतः आनन्द की स्थिति सुख एवं दुःख दोनों से ही परे है। मनुष्य का अन्तःकरण उसी आनन्द की उपलब्धि के निमित्त आकुल-व्याकुल रहता है। परम पिता परमेश्वर साक्षात् आनन्द स्वरूप हैं। जीव अपने निकट में विद्यमान परम पिता परमेश्वर की मङ्गलमयी अनुभूति से वंचित है और यही उसके दुःख का मूल कारण भी है। जहां आनन्द का लेश भी नहीं है, वहीं जीव आनन्द का अन्वेषण कर रहा है (द्रष्टव्य—विनय पत्रिका पद १३६.२)। अतः वास्तविक एवं चिरन्तन आनन्दानुभूति के निमित्त जीव को जगती के कोलाहल से पुत्र, धन, यश आदि के लोभ से चित्तवृत्ति को हटाकर साक्षात् आनन्द स्वरूप, आनन्द के परमधाम परमपिता परमेश्वर में लगाना होगा।

परमात्मा की ओर जीव की यह शुभ प्रवृत्ति कैसे हो, इसके लिए स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने ज्ञान, कर्म एवं भक्ति इन तीन प्रकार के योगों का निर्देश किया है—

> योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
> ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
>
> —श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, अ० २०, श्लो० ६।

इन तीनों में भी भक्ति की महिमा अपरम्पार है—

> सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। —नारदभक्ति सूत्र २५

सारा संसार जीव को धोखा दे दे तो दे दे पर शान्ति एवं आनन्द का धाम सच्चिदानंद घन परमपिता परमेश्वर उसे धोखा नहीं दे सकता। एकमात्र वही सभी जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है। वस्तुतः वह नित्यों में भी नित्य और चेतनों में भी चेतन है—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

—कठोपनिषद् अ० २, वल्ली २, मन्त्र १३

जीव की एकमात्र हार्दिक कामना माया-मोह के सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर उसीकी प्राप्ति करने की है। परमेश्वर की प्राप्ति की यह प्रवृत्ति परमेश्वर की कृपा से ही सम्भव है और उसकी कृपा की प्राप्ति के निमित्त जीव को मन, वचन एवं कर्म से उसके चरणों की शरण लेनी पड़ेगी, अपने आप को उसे अर्पित करना पड़ेगा। यही अवस्था भक्ति का सर्वस्व है। इसकी उपलब्धि के पश्चात् हृदय अपनी आराध्य-वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता। सच्ची भक्ति वैराग्य एवं विवेक की नींव पर स्थित होती है—श्रुति संमत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।" मा० ७.१०० ख(५०)। उसमें सकामता अर्थात् सांसारिक कामनाओं की पूर्ति की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। सच्चा भक्त ईश्वर से सांसारिक ऐश्वर्य-वैभव एवं सुख-समृद्धि की याचना नहीं करता। वह तो केवल भक्ति के आनन्द के लिए ही भक्ति करता है। वस्तुतः जब तक जीवन अज्ञान-ग्रस्त रहता है, तभी तक वह सांसारिक सुखों की उपलब्धि के निमित्त प्रयत्नशील रहता है। परन्तु जब वह परमेश्वर के प्रेम में पूर्णतया निमग्न हो जाता है और उस शाश्वत प्रेमानन्द का रसास्वादन करने लगता है तब वह सांसारिक सुख-समृद्धि की उपलब्धि से उपरत हो जाता है। वह परम वैराग्यशील एवं विवेक सम्पन्न बनकर उस चिरन्तन एवं शाश्वत सत्य तथा सार्वभौम सत्ता के ही चिन्तन-मनन में लीन रहता है। अधिक क्या कहा जाए, मानव-जीवन के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति को भी वह तुच्छातितुच्छ समझता है। ऐसे महाभाग को ईश्वर एवं उनकी अविरल भक्ति की प्राप्ति की ही इच्छा रहती है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउं निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

मा० २.२०४

वह ईश्वर से यही आकांक्षा करता है कि उसकी अन्तरात्मा निरन्तर उन्हीं में निरत रहे।[4] उनके अतिरिक्त अन्य की आकांक्षा एवं आशा उसकी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। भगवान् राम के श्रीमुख की वाणी हैं—

---

4 भा० ५, श्लो० २; ७.१३०(ख)।

मोर दास कहाइ नर ग्रासा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।।

श्रीमद्भागवत में यही बात विशेष प्रभविष्णुता के साथ प्रतिपादित है। भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट कथन है कि जिसने मुझे ग्रपनी ग्रात्मा ग्रर्पित कर दी है, उसे न ब्रह्मासन की ग्राकांक्षा रहती है, न इन्द्रासन की; न वह सार्वभौम साम्राज्य चाहता है, न पाताल का स्वामित्व। यहां तक कि वह न तो योगसिद्धियों की ग्राकांक्षा करता है ग्रौर न मोक्ष की ही। उसे तो मेरे सिवा ग्रन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं होती—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।।

—श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, ग्र० १४, श्लो० १४

परन्तु भगवान् ग्रपने भक्त को स्वत: इस लोक का सुख-वैभव एवं परलोक का कल्याण ग्रर्थात् ग्रभ्युदय ग्रौर नि:श्रेयस्, दोनों प्रदान करते हैं। उनकी कृपा से सकाम भक्तों की भी समस्त ग्रभिलाषाएं पूर्ण हो जाती हैं। जिस प्रकार भक्त को भगवान् के ही ग्रादेश एवं संकेत पर चलना, उनकी ग्रभिरुचि के ग्रनुकूल ग्रपना कार्य-संपादन करना तथा उनके चरणों पर ग्रपना सर्वस्व समर्पण कर देना ग्रभीष्ट होता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् को भी भक्तों को ग्रपनी शरण में रखना, उनकी रक्षा करना ग्रौर उन्हें प्रसन्न रखना सदा ग्रभीष्ट है।

इस भक्ति-मार्ग में पदार्पण करने पर भक्त को संसार के समस्त कार्य-कलाप उसी परमपिता परमेश्वर की परमानुकम्पा से परिचालित होते हुए प्रतीत होने लगते हैं। ग्रत: सुख-दु:ख के द्वन्द्व से वह तटस्थ होकर दोनों में समभाव से स्थित रहता है। वह संसार के समस्त पदार्थों में ग्रपने ग्राराध्यदेव को ही देखता है ग्रौर सभी प्राणियों को ईश्वरमय समझता है—

सीय राममय सब जग जानी।
करउं प्रनाम जोरि जुग पानी।।

मा० १.८.२

उसके ग्रन्त:करण में सबों के प्रति प्रेम ग्रौर सद्‌भाव होते हैं। वह किसी से घृणा विरोध, एवं वैमनस्य नहीं करता—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।

मा० ७.११२(ख)

उसका भीतर-बाहर सदा सर्वदा सात्त्विक प्रसन्नता से ओत-प्रोत रहता है। ऐसे ही भक्तों को नारद ने एकान्त (अनन्य) भक्त कहा है और उन्हें श्रेष्ठ माना है। ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमांच और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर संभाषण करते हुए अपने कुलों को और पृथ्वी को पवित्र करते हैं। ऐसे भक्त तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को सच्छास्त्र कर देते हैं, क्योंकि वे तन्मय हैं। ऐसे भक्तों का आविर्भाव देखकर पितरगण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथ हो जाती है।[5] ऐसे ही महान् भक्तों से विशाल जन-जीवन का वास्तविक कल्याण संभव होता है। वे संसार-सागर से स्वयं पार होकर दूसरों को भी पार उतार सकते हैं। वे साक्षात् भगवत्स्वरूप जो हैं।[6] यही क्यों ? समस्त संसार में भगवान् के गुणों को प्रचारित-प्रसारित करने के कारण उन्हें भगवान् से भी महत्तर माना गया है—

> मोरे मन प्रभु अस विस्वासा।
> राम ते अधिक राम कर दासा॥
>
> —मा० ७.१६

---

5 नारद भक्तिसूत्र ६७–७१।
6 भक्तमाल, दोहा प्रथम।

उर्दू-कवि और कविता

कुं० भगवान दास

जब मुसलमानों ने भारत में अपने पांव जमाने आरम्भ किए, तो पहिले उन्होंने स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित किए। दिल्ली में मुसलमानी बादशाहत की जड़ जमा दी गई थी। यहां के अधिकारी पहिले सुलतान और बाद में बादशाह कहलाए। इनका साम्राज्य फैलता हुआ प्रायः समस्त भारत पर अधिकृत हो गया था। दास वंश से लेकर मुग़लराजवंश तक यह प्रभुत्व बना रहा और अन्तिम के ध्वंसावशेष पर ही अंग्रेज़शासकगण अपना प्रभुत्व जमाने लगे थे। इस मुसलमान साम्राज्य की सीमा के भीतर तथा बाहर भी अनेक मुसलमान-राज्य स्थापित तथा नष्ट होते रहे। उत्तरी भारत के राजपूत नरेशगण मुसलमानों द्वारा तथा आपस की फूट के कारण शक्तिहीन हो गए थे। हिन्दुओं की दशा उस समय ठीक ऐसी ही थी जैसी आजकल पूर्वी बंगाल में बंगालियों की हो रही है। न सह-ए-रफ़्तन, न जाए मांदन। न भागकर कहीं जा सकते थे और न ही वहां पर सुरक्षित रह सकते थे। हिन्दुओं का तो भगवान् ही रूठ गया था। विजेता होने के नाते मुसलमानों का सम्पर्क बढ़ता ही गया और उनके धर्म तथा संस्कृति का प्रसार दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करता चला गया। इसी का प्रभाव भारतीय धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों पर पड़ा और इसी कारण एतद्देशीय भाषाओं के साहित्यों पर उनकी पूरी-पूरी छाप पड़ गई।

मूर्ति-खंडकों द्वारा पदाक्रांत भारत स्वभाववश निर्गुण, निराकार ब्रह्म की ओर तीव्रता से झुक पड़ा। बाह्याडंबर तथा कर्मकांड को यथाशक्ति दूर कर धर्म का अत्यन्त साधारण-रूप ग्रहण किया गया, जिसे सभी समान रूपेण मान सकते थे। ऐसे समय में सूफी संप्रदाय का प्रभाव हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई पाटने के लिए बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ। सहृदय मुसलमानों के हिन्दी में हार्दिक उद्गार यत्र-तत्र कविता के रूप में निकलने लगे और उनका प्रचार भी मुसलमानों में होने लगा। इन बातों से कठमुल्ले भड़क उठे और उनमें यह धारणा घर कर गई कि यदि यही क्रम जारी रहा तो शीघ्र ही मुसलमानगण हिन्दुओं की भी हिन्दी रचनाएं मनन करने लगेंगे तथा उनकी संस्कृति पर प्रभाव पड़ने लगेगा। ये मुल्ले धर्म के कितने कट्टर होते हैं, यह सर्वविदित ही है। यह प्रत्यक्ष है और यह निश्चय था कि भावुक

कवि बिना कुछ कहे किसी प्रकार मान नहीं सकता। अतः हिन्दी भाषा लेते हुए फ़ारसी के छन्दशास्त्र तथा फ़ारस की भावना, दृश्य, अंतर्कथा आदि का प्रयोग कर रचना करने की ओर वे कविगण प्रोत्साहित किए जाने लगे। क्रमशः इसका प्रचार हुआ और खूब हुआ। भक्तिकाल में जितने हिन्दी के मुसलमान कवि हो गए हैं उनका एक चौथाई भी रीतिकाल में नहीं मिलता और आजकल के तो कहने ही क्या हैं, हिन्दी में कविता करने वाला मुसलमान कवि ढूंढे से भी न मिलेगा। इन सब बातों के होते हुए भी उर्दू धारा की आत्मा हिन्दी ही रही है और रहेगी। जिस दिन वह उससे वंचित की जाएगी उसी दिन उसका जनाज़ा निकल जाएगा। उस में उसके कविगण कोह-ए-बेस्तून का या कोह-ए-तूर का या दजलः फ़रात का या बुलबुल-ए-हज़ार दास्तां का कितना भी वर्णन करें, पर जिस दिन उनकी भाषा से 'है पर, तथा उनका' हटा दिया जाएगा उसी दिन उनकी यह भाषा उनका (कल्पित पक्षी) हो जाएगी। वास्तव में उर्दू हिन्दी ही है, पर उसे इतना बाहरी रंग-रूप दे दिया गया और धार्मिक जोश में इतनी घोषणाएं की गईं कि वह सचमुच दूसरी ही बन बैठी है। अब हम कुछ साम्प्रदायिक बातों का वर्णन करेंगे जो उर्दू कविता में विद्यमान हैं।

सन् १८०७ ई० में मौलवी शाह अब्दुल्क़ादिर ने कुरानशरीफ़ का अनुवाद उर्दू में किया। इसके बाद मौलवी इस्माईल ने कुछ पत्रिकाएं मुसलमानों की फहमाइश के लिए उर्दू में लिखीं। सन् १८३५ ई० से उर्दू सरकारी काम-काज की भाषा बन बैठी। सन् १८३६ ई० में उर्दू का दैनिक पत्र दिल्ली से निकला और यह उस भाषा का पहला पत्र था। उर्दू ने धीरे-धीरे फ़ारसी को पीछे धकेलना और अपना क़दम आगे बढ़ाना आरम्भ किया। मुसलमान विजेता थे, इसलिए भारत के लोगों ने उनकी भाषा के बहुत से शब्द अपना लिए। मुसलमान अपने मज़हब के बड़े कट्टर थे। तासुब की पट्टी उनकी आंखों पर चढ़ी हुई थी। भला विजय के नशे में वे भारतीय भाषाएं क्यों सीखते? भाषा ने उर्दू के कपड़े पहनने के लिए फ़ारसी से क्या-क्या लिया—

१. उन वस्तुओं के नाम लिए जो अरब और फ़ारस से आईं और अपने नाम अपने साथ लाईं जैसे पहनावे में—फ़रग़ल, लबादा, कुरता, क़बा, चुग़ा, आस्तीन, ग्रबान, अज़ार, अमामा, रूमाल, शाल, दोशाला, तकया, गावतकया, बुर्क़ा, पोस्तीन आदि।

भोजन में—दस्तरखान, चपाती, शीरमाल, बाक़रखानी, पलाव, ज़रदा, क़ूरमा, हरीरा, मुरब्बे, आचार, फ़ालूदा, गुलाब, बैदमुश्क, खान, तबक़, रकाबी, तश्तरी, कफ़गीर, चमचा, कश्ती, चाय, जोश, मुतंजन आदि।

और दूसरे मद में—हमाम, कीसा, साबुन, शीशा, शमा, शमादान, फ़ानूस, गुलगीर, तनूर, रफ़ीदा, मुश्क, नमाज़, रोज़ा, ईद, शब्बरात, क़ाज़ी, साकी, हुक्का, नेचा, चिलम, तफंग, बन्दूकक़, गंजफ़ा आदि।

ये सब वस्तुएं अपने साथ अपना नाम लेकर आईं।

२. बहुत से अरब-फ़ारसी के शब्द प्रयोग की अधिकता के कारण इस प्रकार जड़ पकड़ गए हैं कि अब उन के स्थान पर संस्कृत या प्राचीन हिन्दी का शब्द ढूंढकर लाना पड़ता है, परन्तु इसमें या तो अर्थ ही नहीं निकलता या भाषा ऐसी कठिन हो जाती है कि उसका समझना असंभव सा जान पड़ता है।

जैसे—दल्लाल, फर्राश, मज़दूर, वकील, जल्लाद, सर्राफ़, मस्खरा, लहाफ़, तोशक, चेहरा, तबीयत, मिजाज, बर्फ़, फ़ाख्ता, क़ुमरी, बुलबुल, पर, दवात, जुलाब, रुक़ा, ऐनक, सन्दूक, कुर्सी, तख़्त, लगाम, रकाब, ज़ीन, नाल, कोतल, अक़ीदा, वफ़ा, मस्तूल, बादबान, तुहमत, दरा, पर्दा, दालान, तहख़ाना, ताज़ा, रसद, कारीगर, शतरंज आदि।

हिन्दी की बनावट देखते ही बनती है। इसी से उर्दू का जन्म हुआ, परन्तु मुसलमानों ने इसे अपनाया और इस को फ़ारसी लिपि में लिखने लगे। गद्य और पद्य में बहुत से शब्द और विचारधारा जो अरबी और फ़ारसी से सम्बन्धित थे, वह भी ले लिए। वीरता का क्षेत्र जिस पर भीम और अर्जुन का अधिकार था, रुसतम और साम को दिया।

सौदा कहते हैं—

> रुसतम रहा ज़मीं पर न साम रह गया।
> मर्दों का आसमां के तले नाम रह गया॥
> रुसतम से भला कह तो मर तेग़ तले धर दे।
> प्यारे यह हमीं से हो, हरकारे व हर मर्दे॥

शाह मुबारिक आबरू—

> रुसतम उस मर्द की खाते हैं क़स्म ज़ोरों की।
> ताब लावे जो कोई इश्क के झकझोरों की॥
> रुसतम तेरी आंखों के होवे अगर मुक़ाबिल।
> अँखयों को देख तेरी, तलवार भूल जावे॥

हुस्न व जमाल के शबिस्तां में लैला व शीरीं आ गईं और जब वह आ गईं तो रांझे के स्थान पर मजनूं व फ़रहाद क्योंकर न आते। मजनूं व फरहाद की आंखों से

गंगा, जमना तो वह न सकी मजबूरन जीयूँ, सीयूँ भारतवर्ष में आ गए। हिमाचल और विन्ध्याचल को छोड़कर कोह-ए-बेस्तूं, कस्रेशीरीं, कोह-ए-अल्वन्द से सिर फोड़ते हैं—

वली—

आरज़ू-ए-चश्मए-कोसर नहीं।
तिश्ना लब हूं शरबत-ए दीदार का॥
पाया है जग में ऐ वली वह लैला-ए मक़सूद कूं।
जो इश्क के बाज़ार में मजनूं नमन रुसवा हुआ।

शाह हातम—

शीरीं लबां सूं संगदिलों को असर नहीं।
फरहाद काम कोहकनी का किया तो क्या किया॥

सौदा—

क़स्म जो खाइये ताल-ए ज़ुलेख़ा की।
अजीज़ मिस्र का भी साहिब एक ग़ुलाम लिया॥

मीर तक़ी मीर—

बेस्तूं क्या है, कोहकन कैसा।
इश्क़ की ज़ोर आज़माई है॥
मर्ग-ए मजनूं से अक्ल गुम है मीर।
क्या दिवाने ने मौत पाई है॥
मजनूं ने हौसले से दीवानगी नहीं की।
जगह से अपनी जाना अपना नहीं व तेरा॥

शाह नसीर—

यह मजनूं है, नहीं आहू-ए-लैला।
पहन कर पोस्तीन निकला है घर से॥

मोमन—

मिन्नत-ए-हज़रत-ए ईसा न उठाएंगे कभी।
ज़िन्दगी के लिए शर्मिन्द-ए अहसाँ होंगे॥

ज़ौक़—

पर्दा दर-ए-काबा से उठाना तो है आसान।
पर पर्दये रुक्सारे-सनम उठ नहीं सकता॥
कोई हो काफ़िर कोई मुसलमाँ जुदा हरएक की है राह ईमाँ।
जो उसके नज़दीक रहबरी है वह उसके नज़दीक रहज़नी है॥

ज़ाहिद शराब पीने से काफ़िर हुआ मैं क्यों ?
क्या डेढ़ चुल्लू पानी से ईमान बह गया ।।
हजर के चूमने ही पर है हजे काबा अगर ।
तो बोसे हमने भी उस संग-ए-आस्तां के लिए ।।

ग़ालिब—

अख्तर सोख्त-ए-क़ैस से निस्बत दीजिए ।
खाले मुश्कीं रुखे दिलकश लैला कहिए ।।
हज़रुलासवद व दीवारे हरम कीजे फ़र्ज़ ।
नाफ़ा आहए बयाबाने ख़ुतन का कहिए ।।
क्या वह नमरूद की ख़ुदाई थी ।
बन्दगी में मेरा भला न हुआ ।।

भारतीय केशों की प्रशंसा में नागों के लहरोन और भंवरों के उड़ने से उपमा देते थे । फ़ारसी में भी ज़ुल्फ़ की तश्बीह सांप के साथ आई है । इसलिए उर्दू में सांप रह गए परन्तु भंवरे उड गए और उसके स्थान पर मुश्क, वनफ़्शा, संबुल, रीहां आ गए जो कभी यहां देखे भी नहीं । परन्तु अरब का साहित्यकार अपनी प्रकृति का हक़ अदा करता है और ज़ुल्फ़ को कोयले की तश्बीह देता है । सांवले रंग की प्रशंसा में श्यामवर्ण और मेघवर्ण कहते थे, इससे खिलता रंग होता तो चम्पावर्ण कहते थे अब सुमन-रंग और सीमरंग के शब्द हुस्न की बहार बढाते हैं, परन्तु चन्द्रमुख और माहरुख मुश्तरक हैं । आंख की प्रशंसा में यहाँ मृग की आंख और कमल के फूल से उपमा देते थे । उर्दू में आहचश्म रहे परन्तु ममोले हवा हो गए । कमल के स्थान पर साग़रे लबरेज़ और नरगमे शहला आ गई, जो किसी ने यहां देखी भी न थी, बल्कि शमशीरे निगाह से क़त्ल करने लगे । चाल के लिए हिन्दी में हथिनी और हंस की चाल प्रसिद्ध है । अब हंस के साथ हथिनी भी उड़ गई । केवल कबकेदरी, शोरे महशर और फ़ितन-ए-क़यामत ने आफ़त बरपा कर रखी है ।

हिन्दी में नाक की उपमा तोते की चोंच से थी । अब जंबुक की कली से तश्बीह देते हैं ।

आतिश—

तोडने वाले गुले जंबूक के हैं ।
काटने वाले चमन की नाक के ।।

पहिले यहां हवा, बादल या हंस को संदेशवाहक कहते थे । मुसलमानों ने नसीम और सबा को क़ासिद रखा । बल्कि नाला, आह और अश्क़ से भी पैग़ामरसानी का काम लिया ।

ज़ौक़—

नाला है उन से ब्याने दर्दे जुदाई करता।
काम क़ासिद का है यह तीरे हवाई करता॥

ज़फ़र—

ज़फ़र गर नहीं है कोई नामाबर।
तुम आंसू ही अपना रवाना करो॥

सौदा—

क़सिदे-अश्क आके ख़बर कर गया।
क़त्ल कोई दिल का नगर कर गया॥

उर्दू का पौधा भाषा की भूमि में उगा परन्तु फ़ारसी की जलवायु में हराभरा हुआ बेदिल और नासरअली का समय बीत चुका था और उनके शिष्य बाकी थे, वे इस्तारे और तश्बीह के लुत्फ़ से मस्त थे, इसलिए उर्दू में इस्तारे और तश्वीह का रंग भी आया और बहुत तेज़ी से आया। यह रंग यदि उतना ही आता जितना कि मुख पर उबटने का रंग या आंखों में सुरमा तो खुश्नुमाई और बीनाई दोनों को लाभदायक था, परन्तु उसकी अधिकता ने हमारी वर्णन-शक्ति को बहुत हानि पहुंचाई और उर्दू को ख्याली बातों से फ़क़त तवहम्मात का स्वांग बना दिया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी और उर्दू में आकाश पाताल का अन्तर हो गया। उर्दू कविता का नवयुवक जो फ़ारसी के दूध पर परवान चढ़ा, उस के मन में बहुत से उच्च विचार और अतिशयोक्ति विचार धारा के साथ वह वातावरण और रस्मोरिवाज़ भी आ गए जो फ़ारस और तुर्किस्तान से विशेष सम्बन्ध रखते थे और हिन्दी के कट्टर विरोधी थे। साथ इस के फ़रसी की नज़ाकत और लताफतेतबी के कारण उर्दू की विचारधारा समझ से बाहर की वस्तु बन गई। जिन बातों को हम बचपन से सुनते चले आ रहे थे उन से वंचित रह गए। उर्दू पढ़ने वालों के लिए ज़रूरी हो गया कि वह फ़ारसी साहित्य से भी जानकारी अवश्य रखे। फ़ारसी और उर्दू के साहित्यिक निबन्धों में जितनी कठिनाई है हिन्दी में उतनी ही आसानी है। हिन्दी में किसी बात का वर्णन लगभग सत्य होता है इस में अतिशयोक्ति या बढ़ा-चढ़ा कर कहने की धूमधाम नहीं होती। इस के विरुद्ध फ़ारसी के कवि अतिशयोक्ति के बिना एक क़दम भी नहीं चल सकते। जब गर्मी का जोर हो और माशूक़ के हुस्न का अन्दाज़ दिखाना हो, तो कहेंगे कि मारे गर्मी के फूल के रुख़सारों से शबनम का पसीना टपकने लगा—

वज़ीर—

हूं वोह बुलबुल जो करे ज़बह ख़फ़ा तू होकर।
रूह मेरी गुले आरिज में रहे बू होकर॥

उर्दू और फ़ारसी की कविता झूठ का एक पुलन्दा है जो अतिशयोक्ति से सरासर भरपूर है। फ़ारसी की विचार-धारा ग़ैर जबान के लोगों की समझ से बहुत दूर की वस्तु है। शब और शबिस्तान के ख्यालात अरब, फ़ारस या तुर्किस्तान के साथ क़ौमी या मज़हबी विशेषता रखते हैं। जैसे—रात को अहले मुहब्बत के जलसे में प्रथम तो साक़ी का आना वाजिब है फिर माशूक़ बजाये एक नाजनीन औरत के परीज़ाद लड़का होता है। इसकी पेशानी और रुख़सार से नूरे-सुबह रोशन है। मगर ज़ुल्फ़ की शाम भी बराबर मुश्काफ़शां है। सुराही कभी सरकशी करती है इसलिए जिगर ख़ून होकर टपकता है। कभी झिझकती है और खन्दये क़ुलक़ुल से हंसती है। कभी वही क़ुलक़ुल हक़ हक़ होकर यादेइलाही में सर्फ़ होती है। मगर प्याला अपने खुले मुंह से हंसता है और इस के आगे दामन भी फैलाता है। फ़लक तीरे हवादिस का तरकश और कमाने कहकशां लगाए खड़ा है। मगर आशिक़ का तीरे आह इस के सीने के पार जाता है, फिर भी जोह्ल मन्हूस की आंख नहीं फटती कि आशिक़ की सुब्हेमुराद रोशन हो। हमारे भारतवर्ष में साक़ी और दौरेजाम की रस्म नहीं थी। इसलिए इस प्रकार के विचार कैसे आते।

उर्दू और फ़ारसी की महफ़िल में शमा (अरबी में मोम को कहते हैं फिर मोम-बत्ती को कहने लगे। फ़ारस में आकर चर्बी की बनने लगी, परन्तु नाम शमा ही रहा।) भारत में चर्बी अपवित्र है इसलिए यहां न शमा थी और न ही उसका नाम था।) फ़ानूस के पर्दे में सुनहरी ताज सिर पर रखे खड़ी है, इसलिए परवाने का आना भी आवश्यक है। वह आशिकेजार आते ही जलकर धूल में मिल जाता है। चिराग़ हंसता है। शमा आशिक़ के ग़म में सारापा जलती है, परन्तु अपना क़दम पीछे नहीं हटाती। शमा का दिल इसलिए भी दुःखी है कि शबेजिन्दगी का दामन बहुत छोटा है। लेकिन सुबह दोनों के मातम में गरेबान चाक करती है। बादेसहर तेजगाम हरकारा है क्योंकि यार का संदेशा बहुत जल्दी लाना और ले जाना है। आफ़ताब (सूर्य) कभी तो पंजयेशुआ से आंख मलता नंगे सिर पूरब के हुजरे (कोठरी) से निकलता है। कभी फ़लक के सब्ज़ा घोड़े पर चढ़कर किरणों का सुनहरी ताज चमकाता शफ़क़ (पौ फटना) का फरेरा उड़ाता आता है क्योंकि अपने शत्रु शाहेअंजुम (तारों का राजा) की सेना को परास्त करके लौटा है। इन ही बुन्यादों पर गुलोगुलजार के विषय के निबन्ध लिखे गए। मुल्की कहानियां और किस्सों के संकेत भी फ़ारस ही के आ गए। जैसे—स्त्री के स्थान पर लड़कों के साथ प्रेम। इन के सौन्दर्य की प्रशंसा, लैला, शीरीं, शमा, गुल, सर्व आदि का सौन्दर्य। मजनूं, फ़रहाद, बुलबुल, क़ुमरी, परवाने का इश्क, फ़ानूस का बुर्का, ग़ाज़ा और गुलगूना, मानी और बहज़ाद की चित्रकला, रुस्तम और अस्फ़न्दयार की बहादुरी, फ़ारस, ईरान यूनान और अरब के किस्से। कोहे बेस्तून, जूएशीर, कसरेशीरीं, जीयूं, सीयूं आदि। ये सब अरब और फ़ारस से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु उर्दू में बहुत से ख्यालात इन्हीं

की बुन्याद पर पद्य और गद्य में उत्पन्न होते हैं ।

यह बड़े दुःख की बात है कि उर्दू कविता कुछ मामूली मतालब के फन्दों फंसकर रह गई अर्थात् मजामीन आशकाना, मेयखारी मस्ताना, बेगुलोगुचज़ार. बह रंगो-बू, हिजर की मुसीबत का रोना, वस्ले मोहूम पर खुश होना, संसार से वैराग्य, इ में फ़लक की जफ़ाकारी और यदि कोई अस्ल बात कहना चाहे तो विचार इस्तारों अदा करते हैं। इसी कारण इस में साम्प्रदाय विशेष के दूसरी बातें शून्य ही दिखल पड़ती हैं। मुसलमानी साम्प्रदाय की प्रत्येक बातों की जानकारी के बिना उर्दू साहि का समझना आसान काम नहीं है। मुसलमान बादशाहों ने इसे प्रोत्साहन दिया। उन के रीति रिवाज़ इस में घुलमिल गए। भारत की सभ्यता और संस्कृति से उर्दु भा का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। उर्दू मुसलमनों के घरों पली, वहीं जवान हुई, उन्हीं की सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित न होती तो क्य करती। मुसलमान हज़ारों वर्षों से भारत में रहते हैं, परन्तु उनका सच्चा प्रेम भारत न होकर अरब आदि देशों से रहा है। इस का सब से बड़ा कारण यह है कि इन्हों भारतवर्ष को कभी भी अपनी जन्मभूमि और मातृभूमि नहीं समझा। यहां की सभ्यत और संस्कृति से कोसों दूर भागते रहे। इन सब बातों से साम्प्रदायिकता की गन्ध ही दृष्टिगोचर होती है। उर्दू साहित्य में मुसलमान लेखकों की ही भरमार है। हिन्दू लेखक उंगलियों पर गिने जा सकते हैं और वे भी उसी रंग में रंगे हुए हैं। यदि उर्दू-साहित्य भारतीयता को ग्रहण करके आगे बढ़ता तो इस भाषा का आज दूसरा ही रंग झलकता।

उर्दू के हिन्दू शायर

★ प्रो० डी० राज 'कंवल'

अखिल भारतीय मुशायरा पूरे जोबन पर था। मंच पर प्रसिद्ध शायरों का जमघट था। उन में हिन्दू और मुसलमान शायरों के अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा में कवयित्रियां भी विराजमान थीं जिन में अधिकतर हिन्दू थीं। अब मंच पर जो शायर तशरीफ़ लाए, उन्होंने अपने विशेष अन्दाज़ में एक नज़म शुरू की "उर्दू ज़बां, मेरी ज़बां, मेरी ज़बां" शेरों में बला की तेजी थी और जोश का यह आलम कि बारहा ऐसा लग रहा था कि मानो वह सामने बैठे हुए श्रोताओं को खुली चुनौती दे रहे हों। जब उन्होंने अपनी नज़म पढ डाली तो हाल तालियों से गूंज उठा। वह माइक से वापिस आकर अपने स्थान पर बैठ गए उनके मुख पर एक विजेता की सी चमक थी। मैं देर तक उन्हें देखता रहा··· मैं बार बार यही सोच रहा था कि उन्होंने इतने जोर से यह बात क्यों कही कि "उर्दू ज़बां, मेरी ज़बां" साथ ही साथ मैंने मंच पर बैठे हुए सभी शायरों की ओर देखा। उनमें बहुत से हिन्दू शायर मौजूद थे और इस से पहले वे सब अपने अपने कलाम पर झोलियां भरकर दाद वसूल कर चुके थे। मैं सोचने पर मजबूर था कि क्या उर्दू किसी विशेष वर्ग, जमायत या क़ौम का सरमाया है? क्या हिन्दू शायरों ने इसको अपने दिल-दिमाग और कल्पना से नहीं संवारा? क्या उन्होंने इसकी वर्तमान चमक-दमक में अपनी पूरी पूरी योग्यता नहीं लगाई? क्या उर्दू शायरी ने केवल मीर, गालिब, जौक, दाग और इकबाल ही पैदा किए हैं? नसीम, चकबसत, जोश मलसयानी, मुन्नवर और फ़िराक गोरखपुरी पैदा नहीं किए? तराजू के दोनों पलडे बराबर दिखाई पडते हैं।

सैय्यद रफीक मारहरवी, अपनी पुस्तक "हिन्दुओं में उर्दू" में लिखते हैं कि "उर्दू जबान दरहकीकत शेख और ब्राह्मण की मुशतरका मलकीयत है। इस जबान ने इन्हीं दोनों की आपसी मुहब्बत के साये में नशवो-नमा पाई है। प्राचीन समय में जहां 'उर्फी' व 'नज़ीरी' सर-गर्म-ए-सुखन दिखाई देते हैं वहां 'सूरदास' और 'कबीर' के नग़मों से भी फ़िज़ा गूंजा करती है। जहां 'अमीर खुसरो' 'मीर तकी' 'सौदा' और 'आतिश' के नाम नजर आते हैं वहीं 'वलीराम वली', 'दीवाना', 'परवाना' और 'राकम' वग़ैरा के नाम भी उभरते हैं।" अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि लगभग पन्द्रह-बीस हजार हिन्दू शायर हो गुजरे हैं जिनमें छोटे बड़े सभी शामिल

हैं। इस से स्पष्ट होता है कि उर्दू शायरी किसी एक वर्ग की न होकर सब की है। हिन्दू शायरों ने इस फ़न में बहुत से मारके सर किए हैं। उनका योगदान किसी प्रका[र] भी कम नहीं।

उर्दू की जननी ब्रज भाषा

मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आब-ए-हयात' में लिखते [हैं] कि "इतनी बात हर व्यक्ति जानता है कि हमारी उर्दू जबां ब्रज भाषा से निकली [है] और ब्रज भाषा खास हिन्दोस्तानी ज़बान है। लेकिन वह ऐसी ज़बान नहीं कि दुनि[या] के पर्दे पर हिन्दोस्तान के साथ ही आई हो। उसकी उम्र आठ सौ वर्ष से अधि[क] नहीं और ब्रज का सबज़ा-ज़ार उसका अपना वतन है।" यदि हम आठ सौ वर्ष पू[र्व] के साहित्यिक इतिहास के पन्नों को पलटते हैं तो सबसे पहले हमारे सन्मुख जि[स] हिन्दोस्तानी कवि का चित्र उभरता है वह है 'चन्द बरदाई'। वह ११५६ में पैद[ा] हुए। अनेक भाषाओं से परिचित थे। शायरी, छन्द शास्त्र, ज्योतिष इत्यादि में व[ह] पूरे निपुण थे। वह न केवल पृथ्वीराज चौहान के दरबारी शायर थे बल्कि उनके मन्त्री और परम मित्र भी थे। उनकी कविता उर्दू ज़बान के कितनी निकट है इसका निर्ण[य] आप उनके निम्नलिखित शेरों से स्वयं लगाएं—

चार बांस चौबीस गज, उङ्गल अष्ट प्रमान।
ता ऊपर सुल्तान है, मत चूके चौहान॥

फेर न जननि जन्म में, फेर न खिचे कमान।
सात बार तू चूक गयो, अब न चूक चौहान॥

आप ने देखा उनके दोहों या शेरों में कितनी सादगी है और वह हर किस[ी] की समझ में आ जाते हैं। अब ज़रा और आगे चलिए। सिकन्दर लोदी के राज[्य] काल में 'कबीर दास जी' एक महान् कवि हुए हैं। उनके तमाम अशआर वर्तमा[न] उर्दू के बहुत निकट हैं। उन्होंने लगभग पांच-छः हज़ार शेर अपनी यादगार छोड़े [हैं] जिनको उर्दू ज़बान के सही नक्श-ओ-निगार माना जाता है। नमूना उपस्थित है—

माटी कहे कुम्हार से, तू क्यों रौंदे मोहे।
इक दिन ऐसा आएगा, मैं रौंदूंगी तोहे॥

चलती चाकी देख के दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित रहा न कोय॥

उनकी एक ग़ज़ल का रंग और तैवर देखिए—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या ?
रहें आजाद ये जग में, हमन दुनिया से यारी क्या ?
जो बिछड़े हैं प्यारे से, भटकते दर-ब-दर प्यारे,
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तज़ारी क्या ?
खलक सब नाम अपने को, बहुत सा सर पटकता है,
हमन गर नाम सांचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ?
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से,
जो चलना राह नाज़ुक है, हमन को बोझ भारी क्या ?

तो यह है आज से ५०० वर्ष पूर्व की उर्दू ज़बान का नमूना। इन के बाद शायरी के आकाश पर एक और सितारा उभरता है जिसका नाम गुरु नानकदेव जी है। २७ वर्ष की आयु में नानक कबीरदास से मिले। दो महान् हस्तियों का मिलाप एक दूसरे के हृदय पटल पर अमिट छाप छोड़ गया। गुरु नानक का कलाम भी कबीर के कलाम की भाँति बहुत साफ, सुलझा हुआ और मंजा हुआ है और हमारे वर्तमान उर्दू के बहुत समीप है। नमूना-ए-कलाम देखिए—

सोच विचार करे मत मन में,
जिस ने ढूंढा उसने पाया॥

इस दम की दुबदा, बे भरोसा आया न आया,
ये संसार रात का सपना, कहीं देखा कहीं न देखा॥

'मीरा बाई' का कलाम हमारे वर्तमान उर्दू के और भी निकट है। क्या रवानी है भावों की और क्या चयन है शब्दों का। ऐसा लगता है जैसे वातावरण में किसी ने मिश्री घोल दी हो। एक-एक शेर हृदय की तारों को छूकर मन की अथाह गहराइयों में उतर जाता है। लिखती हैं—

जो मैं ऐसा जानती, प्रीत किए दुःख होए।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीत न करियो कोए॥

राम की मैं दीवानी, मेरा दर्द न जाने कोए।
घायल की गति घायल जाने, जो घायल कोई होए॥

मीरा के कलाम में सोज़ है, दर्द है, तड़प और कसक है। आज भी उसके सैंकड़ों गीत शायरों को प्रेरणा देते हैं।

सूरदास को कौन नहीं जानता। उनका जन्म १४८३ ई० में हुआ। उन
गीत भाषा ज़बान का ज़ेवर और हिन्दी ज़बान का अमर सरमाया माने जाते है
परन्तु उनकी शायरी में भी आप को अनगिनत शब्द अरबी व फ़ारसी भाषा
मिलेंगे। ज़रा इन शेरों को देखिए—

माया धाम धन धुनता, बाँधियों हों इस साज (साज़)
सन्त सभी जानत हूं, तू न आओ बाज (बाज़)
खेत बहुत काहे तुम ताने, सबन सुनी आवाज (आवाज़)
देव न जात पार उतर आए, चाहत चढ़े जहाज (जहाज़)
नई कन्त कहत प्रभु तुम सों, सद गरीब नवाज (ग़रीब नवाज़)

कल्पना कीजिए कि यदि सूरदास जैसे सन्त महात्मा अपने दोहों में फ़ार
के इतने शब्दों का प्रयोग करते थे तो आम जनता क्या इससे अधिक नहीं बोल
होगी।

सन्त तुलसीदास भी अपने समय के महान् कवि हुए हैं। उनकी अमर कृ
रामचरितमानस आज भी हर गांव और नगर में श्रद्धा से पढ़ी जाती है। उन
कृतियों की एक झलक देखिए—

तुलसी आह गरीब की कभी न खाली जाए।
मरे चाम की सांस से, लोहा भस्म हो जाए।।

माया से माया मिले, कर-कर लम्बे हाथ।
तुलसी दास गरीब की, कोई न पूछे बात।।

तुलसी सीधी चाल से, प्यादे होए वज़ीर।
फ़रज़ी शाह न हो सके, गत तेरी तासीर।।

तुलसी की शायरी में सैंकड़ों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां उनकी भा
बिल्कुल उर्दू जान पड़ती है।

'बीरबल' को प्रायः लोग हंसोड़ा ही मानते हैं, परन्तु बहुत कम लोग ऐसे
जो ये जानते हैं कि वह बड़ा अच्छा और ज़हीन शायर था। उसकी एक पहे
मुलाहिज़ा फ़र्माइए—

घी में ग़र्क, स्वाद में मीठा, बिन बेले वह बेला है।
कहें बीरबर सुनें अकबर यह भी एक पहेला है।।

आप ने देखा कि किस प्रकार पूर्व काल के हिन्दू शायरों और कवियों ने दूसरे लोगों के शाना-ब-शाना मिलाए हुए उर्दू शायरी की बेल को अपनी योग्यता के जल से सींचा। उर्दू का जन्म एक दम नहीं हुआ। धीरे-धीरे भारत की असंख्य ज़बानें आपस में घुलती-मिलती चली गईं और आखिरकार एक मीठी-सी ज़बान ने जन्म लिया जिसका नाम उर्दू पड़ा। हिन्दू शायरों की सूची बहुत लम्बी है। एक ही मजमून में सब का ज़िक्र करना असम्भव है। उसके लिए बहुत स्थान और समय लगेगा। अगले लेख में सतारहवीं, अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के हिन्दू शायरों का परिचय विस्तारपूर्वक देने का भरसक प्रयत्न करूंगा।

महाभारत में इतिहास—(४)

● गुरुदत्त

इस लेख माला में हम बता चुके हैं कि वैदिक परम्परा के अनुसार इतिहास (पुराण) का आरम्भ सृष्टि रचना से होता है। हमने यह भी बताया है कि रचना और प्रलय, तदनन्तर रचना और फिर प्रलय; यह दिन और रात के समान आदि काल से चला आता है और अनन्त काल तक चलता रहेगा; अर्थात् यह क्रम अनादि, अनन्त है।

अत: रचना काल के पूर्व प्रलय काल (ब्रह्म रात्रि) और उस समय सब कुछ शान्त था। उस समय की संक्षेप व्याख्या हम लेख संख्या (३) में कर आए हैं। इस अवस्था को अव्यक्त के नाम से स्मरण किया जाता है।

अव्यक्त से व्यक्त कैसे बना ? इसका वर्णन ही इतिहास का आरम्भ है। इस विषय में इस प्रकार लिखा है—

> अव्यक्त इति विख्यात: शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्यय:।
> यत: सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च ।।

(महा भा० शा० १८२.१२)

वह अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध है। वह शाश्वत है, अक्षय है और अव्यय है। अव्यय का अभिप्राय व्यय न होने योग्य है। व्यय होने से वस्तु न्यून मात्रा में हो जाती है। जैसे एक मनुष्य के पास एक सौ रुपया हो और वह बाज़ार में भिन्न-भिन्न वस्तुएं क्रय करने चल पड़े तो ज्यों-ज्यों वस्तुएं क्रय होती जाती हैं, रुपये कम होते जाते हैं। यद्यपि रुपये से वस्तुएं क्रय हुई हैं, परन्तु रुपये कम हुए हैं। ऐसी बात उस अव्यक्त पदार्थ में नहीं होती जो अनादि काल से उपस्थित है। जब उस अव्यक्त से रचना होती है तब भी वह कम नहीं होती। वह उतनी की उतनी ही रहती है। अव्यय पदार्थ कम नहीं होता। इसी को एक वेद मन्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है—

> पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

वह पूर्ण है और यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है। पूर्ण का पूर्ण लेकर पीछे पूर्ण ही बच जाता है।

यह उस अव्यक्त का ही वर्णन है जिसको अव्यय कहा गया है।

यह हम बता चुके हैं कि अव्यक्त तीन प्रकार का है। अव्यक्त ब्रह्म है और ब्रह्म तीन हैं, परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। इस अक्षर, अव्यय, अनादि और अनन्त से सृष्टि की रचना होती है।

लिखा है—

अक्षरात् खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्।
जलात् प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत्॥
(महा भा० शा० २०२.१)

उस अविनाशी से खं, खं से वायु, वायु से ज्योति और ज्योति से जल, जल से जगती और जगती से जगत् उत्पन्न हुआ है।

इस श्लोक में खं, वायु, ज्योति, जल, जगती और जगत् यह प्रक्रिया वर्णन की है। इन शब्दों का अर्थ समझने से ही बात समझ आ सकती है। कारण यह कि इस श्लोक में वर्णित खं, वायु इत्यादि के वे अर्थ नहीं जो लौकिक भाषा में लिए जाते हैं।

अक्षर का अभिप्राय हम पूर्व लेख (३) में वर्णन कर चुके हैं। तीन अक्षर पदार्थ हैं। तीनों ही अव्यक्त हैं और जो कुछ यह बना है वह तीनों से ही बना है। इन तीन अक्षरों में सांख्य के अनुसार केवल एक अक्षर ही परिणामी है, अन्य दो अक्षर अपरिवर्तनशील हैं। परिणामी के विषय में सांख्य दर्शन में इस प्रकार लिखा है:

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्,
महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥
सांख्य, १.६१)

सत्त्व, रजः, तमः तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्रा दोनों प्रकार की इन्द्रियां। तन्मात्राओं से स्थूल भूत। पुरुष पचीसवां गण है।

प्रकृति अव्यक्त से खं—आकाश। यह पांच भौतिक आकाश नहीं। यह तो पंच भूतों के बनने से पहले ही था और सीधा प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखता माना जाता हैं। इसे अन्तरिक्ष कह सकते हैं। यह भी अनन्त है। कारण यह कि इसमें ही तो अनन्त, अव्यक्त स्थित है। अतः खं के अर्थ वह पूर्ण स्थान है जिसमें अव्यक्त भरा हुआ है।

इस खं में वायु उत्पन्न होती है। यह वायु परमात्मा की शक्ति का नाम है। इस वायु के विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—

स होवाच वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोक: परश्च लोक: सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति तस्माद् वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्त्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्—

(बृहदा० ३.७.२)

अर्थात्—उस याज्ञवल्क्य ने कहा, "हे गौतम, वायु ही वह सूत्र है। वायु रूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूत समुदाय गुंथे हुए हैं। इससे मरे हुए प्राणी को ऐसा कहते हैं कि उसके अंग ढीले पड़ गए हैं; क्योंकि वे वायु सूत्र से ही ग्रथित थे।

यह वायु परमात्मा की शक्ति है जिससे सब पदार्थ भीतर नियन्त्रित रहते हैं।

यही वायु उत्पन्न हुई। वायु गति का सूचक है। गति से परमाणुओं का संयोग-वियोग आरम्भ हुआ और उससे सृष्टि की रचना हुई।

वायु और उससे परमाणुओं में संयोग-वियोग उत्पन्न करने वाला परमात्मा ही माना है।

ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं जगत्।
एकस्य ब्रह्मभूतस्य द्वयं स्थावरजङ्गमम्॥

(महा भा० शा० २३२.१)

तेजोमय ब्रह्म ही सबका बीज है। उसी से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म के (बीज डालने से) ही स्थावर और जङ्गम दोनों की उत्पत्ति हुई।

यही बात मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णन की गई है—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

(मनु० १.६)

अर्थात्—तब स्वयम्भुव अव्यक्त इन्द्रियों से अगोचर भगवान् ने अपने असीम तेज से पच महाभूत और यह सब कुछ जो दृष्टिगोचर हो रहा है, निर्माण किया।

यद्यपि महाभारत में इसके निर्माण की व्याख्या नहीं लिखी, परन्तु मुख्य बात तो वर्णन की ही है। वह हमने अपने इस लेख में प्रकट कर दी है। एक तो यह कि तीन अनादि पदार्थ हैं। प्रकृति, जीवात्माएं और परमात्मा। दूसरी बात यह कि प्रलय काल में सब कुछ सोया हुआ सा प्रतीत होता है। तीसरी यह कि जड़ प्रकृति

से परमात्मा के महान् तेज से रचना कार्य आरम्भ होता है। यह भी बताया गया है कि रचना में सर्व प्रथम अन्तरिक्ष बनता है; तदनन्तर वायु बनती है। वायु से गति उत्पन्न होती है।

इस गति से क्या होता है। यह मनु स्मृति में इस प्रकार लिखा है—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ।।

(मनु १.११)

एक नित्य अव्यक्त इस सत्-असत् का (उपादान) कारण है। उससे एक पुरुष ब्रह्मा (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न होता है।

इसमें एक बात समझ लेनी चाहिए कि शास्त्र में जहां कहीं एक ही पदार्थ को सत् एवं असत् ऐसा लिखा हो, वहां प्रकृति से ही अभिप्राय होता है। कारण यह कि तीन अनादि पदार्थों में केवल प्रकृति ही परिणामी है। परमात्मा और जीवात्मा अपरिवर्तनशील है।

दूसरी बात समझने की है पुरुष। अध्यात्म साहित्य में पुरुष पौरुषवान की संज्ञा है। जो भी पौरुषवान पदार्थ होगा उसे पुरुष नाम से सम्बोधन किया जाता है। यहां पुरुष हिरण्यगर्भ जिसे ब्रह्माण्ड भी लिखा है, से अभिप्राय है। हिरण्य गर्भ को महान् शक्ति का भण्डार माना जाता है। यह ठीक है कि यह महान् शक्ति परमात्मा की ही है, परन्तु उस समय इस शक्ति का प्रादुर्भाव हिरण्य में हो रहा था। इस कारण पुरुष शब्द उसी के लिए आया है। इसे ब्रह्म भी कहा है। यह प्रथम ब्रह्म है।

महाभारत में इस और छः ब्रह्माओं का उल्लेख आया है। सातवें मन्वन्तर में जो ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे, वे ही परमात्मा श्री हरि से किसी प्रयोजन विशेष से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्य क्षेमं पन्थानमास्थित ।
विश्वभुक् सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिज ।
अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयम्भुवः ।।
त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम् ।
चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत् पुरातनम् ।।

(महा भा० शा० ३४७.३६,४०)

व्यक्त से अव्यक्त को बनाने वाले अचिन्त्य स्वरूप, कल्याणमय मार्ग पर चलने वाले सब प्राणियों के अन्तरात्मा स्वयं अयोनिज है। आपके मन से मेरा प्रथम

जन्म हुआ था। वह जन्म द्विजों से पूजन किया गया था। दूसरा जन्म आपके चक्षु से हुआ था।

यहां हमारा ब्रह्म के प्रथम जन्म से अभिप्राय उस ब्रह्मा से है जिसने ब्रह्माण्ड निर्माण किया था और जिसे मनु ने हिरण्य गर्भ के नाम से स्मरण किया है।

इस समय तक छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं; अर्थात् छः ब्रह्मा हुए हैं और सातवें ब्रह्मा कमल से उत्पन्न हुए थे।

दो जन्मों के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं। अन्य के विषय में इस प्रकार वर्णन किया है।

त्वत्प्रसादात् तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत्।
त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो॥
नासिक्यं चापि मे जन्म त्वत्तः परममुच्यते।
अण्डजं चापि मे जन्म त्वत्तः षष्ठं विनिर्मितम्॥
इदं च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित॥

(महा भा० शा० ३४७.४१,४२,४३)

अर्थात् महत् से मेरा तीसरा जन्म हुआ। चौथा आपके कान से हुआ। आपकी नासिका से मेरा पांचवां जन्म हुआ। हिरण्यगर्भ से छटा जन्म हुआ और कमल से सातवां जन्म हुआ।

इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा दिन के आज तक छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। प्रत्येक मन्वन्तर का आरम्भ सृष्टि क्रम के किसी प्रकार के परिवर्तन से होता है। इसके करने के लिए ब्रह्मा के जन्म की बात लिखी है।

ब्रह्मा के विषय में मनु स्मृति में लिखा है—

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः॥

(मनु० १.१७)

अर्थात्—ये छः सूक्ष्म तत्त्व विद्यमान हैं जिसके शरीर में वह मूर्ति (ब्रह्म) है। ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं।

अभिप्राय यह कि ब्रह्म का अभिप्राय इस जगत् से है जिसमें छः सूक्ष्म तत्त्व प्रकृति, महत्, अहंकार, पंच महाभूत, तन्मात्रा और जीवात्मा, ये छः सूक्ष्म तत्त्व हैं जो ब्रह्मा का शरीर है।

क्योंकि सृष्टि की रचना आजकल सातवें दौर में है; इस कारण ब्रह्मा के सात जन्म माने जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में मनु का एक अन्य श्लोक लिख दिया जाए तो बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

ऊपर हमने हिरण्यगर्भ को ब्रह्माण्ड बताया है। अब आगे कहा गया है—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥

(मनु० १.१३)

उस अण्डे (हिरण्यगर्भ) में एक वर्ष निवास कर अपने ध्यान द्वारा उस अण्डे के टुकड़े कर दिए। उस अण्डे के टुकड़े होने पर पृथ्वी, व्योम, दोनों के बीच अन्तरिक्ष और आठ दिशाएं बनीं।

इसमें विचारणीय है एक सम्वत्सर की अवधि। मानव भाषा में ३६० दिन का सम्वत्सर होता है। अतः जगत् के जीवन में एक सम्वत्सर होगा ४३२०००००० वर्ष को एक सौ से भाग देने पर। यह बनेगा, ४३२०००००० सौर वर्ष का।

अर्थात्—जब सृष्टि निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ, उससे ४३२,००००० वर्ष पर्यन्त हिरण्य में परमाणुओं का संयोग-वियोग होता रहा और तब वह हिरण्यगर्भ फटा और उसमें से पृथ्वी (नक्षत्रादि ठोस पदार्थ) बने। व्योम, तारागण इत्यादि बने और अन्तरिक्ष में विद्युत्, मरुत्, अग्नि इत्यादि पदार्थ बने।

क्रमशः

हिन्दी पत्रकारिता का स्वरूप

★ मंजु शर्मा

पराये आभूषणों से कभी रूप नहीं निखरता।

आज बाजार में अनेक प्रकार के समाचार-पत्रों को देखकर हमें इस बात पर गौरव अनुभव होता है कि हिन्दी पत्रकारिता ने थोड़े ही समय में सराहनीय उन्नति कर ली है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ ही वर्ष पूर्व लगाए गए इस पौधे ने शीघ्र ही विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया है। अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं की शाखाओं ने इसे काफी घना बना दिया है। इसकी ज्ञान-छाया में ऐसे असंख्य व्यक्तियों की आत्मा को शीतलता मिलती है जो पहले हिन्दी-पत्रकारिता की दीन-दशा के कारण इससे वंचित रह जाते थे।

किन्तु आज भी इससे आनेवाली वायु की सुगन्ध कभी-कभी अपने विदेशी होने का आभास देती है। सम्भवतः इसलिए कि भारत में सर्वप्रथम पत्रकारिता का जन्म विदेशियों द्वारा एवं विदेशियों के लिए ही हुआ। उस समय ईस्ट-इंडिया कम्पनी में नौकर बनकर आने वाले कर्मचारी नवाब बनकर निकलते थे। कम्पनी में भी भ्रष्टाचार एवं व्यभिचार बुरी तरह फैला हुआ था। पारस्परिक तनाव, ईर्ष्या एवं एक-दूसरे की पोल खोलने के लिए उन्हें समाचार-पत्र सबसे सफल माध्यम मिला। १८७० में सर्वप्रथम जेम्स आगस्टसहिक्की ने "कलकत्ता जनरल एडवर्टाइजर" नामक पत्र निकाला जो "बंगाल गजट" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें छपने वाले समाचार मुख्यतः कम्पनी के कर्मचारियों के विरुद्ध चारित्रिक आरोप हुआ करते थे। इसके अतिरिक्त एक कालम अंग्रेजी कविताओं का होता था, बाकी ब्रिटेन के समाचार होते थे। इसकी भाषा अंग्रेज़ी थी। समाचार विदेशी होने के कारण इस पत्र के अधिकांश पाठक भी विदेशी होते थे। भारतेन्दु-युग से पूर्व तक निकलने वाले सभी समाचार-पत्र इसी प्रकार अंग्रेज़ों द्वारा संचालित होते थे। इनकी भाषा अंग्रेज़ी होती थी और समाचार विदेशी अथवा विदेशियों से सम्बन्धित होते थे। उस पत्रकारिता में भारतीयता की कहीं झलक भी नहीं मिलती थी।

भारतेन्दु युग से अब तक अनेक कठिनाइयों का सामना करती हिन्दी-पत्रकारिता प्रगति के पथ पर निरन्तर बढ़ती रही है। किन्तु प्रगति की इस दौड़ में अभी भी अंग्रेज़ी-पत्रकारिता से वह कहीं पीछे है। आज भी वह अंग्रेज़ी पत्रकारिता की

छाया मात्र है। उसे प्रत्येक पग पर अंग्रेज़ी का अनुकरण करना पड़ता है। विशेषकर दैनिक-पत्रों को हिन्दी के समाचार पत्रों को अंग्रेज़ी-पत्रकारिता पर ही निर्भर होना पड़ता है। इसके कारण है—

टैलिप्रिंटर्स, जिन पर देश-विदेश के समाचार प्राप्त होते हैं, अंग्रेजी में टंकित करते हैं। हिन्दी के पत्रकारों को उनका अनुवाद करना पडता है। समाचार प्राप्त करने का एक और साधन है—"समाचार समितियां"। भारत में लगभग ६ ऐसी समाचार-समितियां हैं। इनमें से केवल दो हिन्दी की हैं (हिन्दुस्थान-समाचार तथा समाचार भारती)।

लाइनोटाइप तथा मोनोटाइप आदि मशीनें भी विदेशी होने के कारण हिन्दी में बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती हैं। समाचार प्राप्त करने के लगभग सभी साधन ऐसे हैं जिन पर अंग्रेज़ी में ही समाचार प्राप्त होते हैं। हिन्दी पत्रकारिता का अग्रेज़ी पत्रकारिता से पिछड़े रहने का एक प्रधान कारण यह भी है कि पत्रकारिता प्रशिक्षण केवल अग्रेज़ी माध्यम द्वारा है।

इस परिस्थिति में हिन्दी पत्रकार का स्थान पत्रकारिता के क्षेत्र में केवल एक अनुवादक का है। समाचारों के लिए उसे सदा अग्रेज़ी-पत्रकारिता की ओर हाथ फैलाना पड़ता है। हिन्दी के बड़े-बड़े पत्र वही हैं जिनकी अंग्रेज़ी में काफी बड़ी मात्रा में प्रकाशन सख्या है। हिन्दी का ऐसा कोई भी दैनिक पत्र नहीं जिसका अंग्रेज़ी पत्र न निकलता हो और उसकी प्रकाशन संख्या (हिन्दी तथा अंग्रेज़ी) सभी समाचार-पत्रों से अधिक हो। हिन्दी पत्रकार तो बेचारा अग्रेज़ी से प्राप्त किए गए समाचारों का अनुवाद करने में ही लगा रहता है। यही कारण है कि हिन्दी समाचार-पत्रों में समाचार कई बार देर से छपते हैं। यही कारण है कि हिन्दी के समाचार-पत्रों में अंग्रेज़ी पत्रों की अपेक्षा विदेश के समाचार तथा खेल आदि के बारे में देर से तथा संक्षेप में समाचार दिए जाते हैं। केवल समाचार-पत्रो की बात ही नहीं आकाशवाणी से भी हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेज़ी में ही ताज़ा समाचार पहले प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार हमें यह मानना पड़ता है कि हिन्दी पत्रकार के लिए एक निपुण अनुवादक होना आवश्यक है अन्यथा अनुवाद की क्रिया-प्रक्रिया के फलस्वरूप समाचार का स्वरूप ही कई बार बदल जाता है।

यह बड़े खेद की बात है कि हमारे देश में हिन्दी को प्रोत्साहन देने के बाद भी हिन्दी पत्रकारिता की कठिनाइयों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। हिन्दी पत्रिकाएं प्रायः समाचार प्रधान न हाकर साहित्यिक होती हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में तो यह कठिनाइयां पैदा नहीं होतीं किन्तु दैनिक समाचार-पत्र तो अंग्रेज़ी पत्र-कारिता का ही प्रतिबिम्ब है।

सगोत्र-सपिण्ड विवाह

● आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा

सगोत्र-सपिण्ड विवाह (consanguineous marriages) स्मृतियों में निषिद्ध माने गए हैं। हिन्दू-धर्म हिन्दू-समाज के लिए इनका निषेध किया गया है। 'मनुस्मृति' में 'ब्रह्मचर्याश्रम' का विशद वर्णन करने के बाद गुरुकुल से लौटे दीक्षित ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश एवं विवाह करने का विधान बताते हुए सबसे पहले यही कह दिया है कि सगोत्र-सपिण्ड विवाह न करें; तद्यथा—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

(मनुस्मृति, अ. ३.१४)

अर्थात्, उपवीती-अधीती द्विजों के लिए विवाह एवं मैथुन-कर्म के लिए वही कन्या प्रशस्त होती है जो माता-पिता की सपिण्ड-सगोत्र न हो।

'सपिण्ड' का अभिप्राय है 'औरस सन्तान', जिसका रक्त-सम्बन्ध सीधा हो। जैसे, माता के माता-पिता-बहिन-भाई की कन्या। 'सपिण्डता' की यह सीमा पिछली छह पीढ़ियों के बाद समाप्त हो जाती है; अर्थात्, माता के माता-पिता, उनके माता-पिता, इस प्रकार छठी पूर्वजों की पीढ़ी से पूर्व की सातवीं पीढ़ी इस 'सपिण्डता' के दोष से मुक्त मानी जाती है—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते ।

(मनुस्मृति, ५.६०)

यम्पुरुषं प्रतियोगिनं कृत्वा निरूप्यते तस्य पितृपितामह-प्रभृतीन्षट् पुरुषानतिक्रम्य सप्तमे पुरुषे प्राप्ते सपिण्डत्वं निवर्तते। एवं पुत्रपौत्रादिष्वप्यवगन्तव्यम्। पिण्डसम्बन्धि-निबन्धना चेयं सपिण्डता। (कुल्लूकभट्टटीका, मनु. ५.६०)

सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् । (मत्स्यपुराण)

सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी। (शंख)

अर्थात्, माता की पिछली छह पीढ़ियों में से किसी पीढ़ी से उत्पन्न कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। नाना-नानी, परनाना-परनानी आदि किसी के वंश वाली से नहीं।

माता की सपिण्ड' ही नहीं 'सगोत्र' कन्या से भी विवाह का निषेध 'मनुस्मृति' में किया गया है, ऐसा अभिप्राय टीका में कुल्लूकभट्ट ने प्रतिपादित किया है—

चशब्दान्मातृसगोत्राऽपि मातृवंशपरम्पराजन्मनाम्नोः प्रत्यभिज्ञाने सति न विवाह्या। तदितरा तु मातृसगोत्रा विवाह्येति संगृहीतम्।

(कुल्लूकभट्ट टीका। मनु. ३.५)

अर्थात्, यदि किसी कन्या के बारे में ज्ञात हो जाए कि वह 'वर' की माता के वंश या गोत्र में अमुक-अमुक परिवार की सन्तान है तो उससे विवाह नहीं करना चाहिए। हां, यदि मातृवंश परम्परा में कन्या के सम्बन्ध में जन्म-नाम आदि का सम्बन्ध-ज्ञान न हो पावे तो उससे विवाह किया जा सकता है। यह बात 'व्यास' ने बहुत स्पष्ट कर दी है—

सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि।
जन्मनाम्नोरविज्ञान उद्वहेदविशंकितः॥ (कुल्लूक-उद्धृत व्यास)

और 'मेधातिथि' आचार्य द्वारा उद्धृत 'वसिष्ठ'-वचन में ऐसी ही कन्या के विषय में छूट भी दे दी गई है कि यदि 'वर' की मातृवंश परम्परा से कन्या के जन्म एवं नाम का सम्बन्ध ज्ञात न होवे तो उससे विवाह एवं मैथुन (सन्तानोत्पत्ति) करने पर केवलमात्र 'चान्द्रायण' व्रत द्वारा प्रायश्चित करना ही पर्याप्त है। यहां तक कि वहां तो ममेरी बहन से भी विवाह करने पर इसी व्रत के द्वारा दोषमुक्ति का विधान किया है—

परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा।
तस्यां कृत्वा समुत्सर्गं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्।
मातुलस्य सुतां चैव मातृगोत्रां तथैव च॥
('वसिष्ठ'-वचन, 'मेधातिथि' लिखित; कुल्लूकटीका)

यह छूट भी, कुल्लूकभट्ट के अनुसार, इसीलिए है कि 'वर' के मातृवंश के साथ 'कन्या' के सम्बन्ध का जन्म-नाम आदि ज्ञात नहीं है, तद्यथा—

"यत्तु मेधातिथिना वसिष्ठनाम्ना मातृसगोत्रा-निषेधवचनं लिखितम्—तदपि मातृवंशजन्मनाम-परिज्ञानविषयमेव।" (कुल्लूकभट्टटीका। मनु. ३.५)

अर्थात्, विवाह के लिए 'कन्या' न तो 'वर' की माता की पिछली छह पीढ़ियों की सन्तति होनी चाहिए और नाहीं मातृवंश के गोत्र वाली (जहां तक इस गोत्र का ज्ञान हो सके)।

और, पिता की भी 'सगोत्र' नहीं होनी चाहिए। अर्थात्, पिता की बिरादरी की सन्तान नहीं होनी चाहिए। चाचा-चाची, दादा-दादी, परदादा-परदादी, नगड़दादा-नगड़दादी एवं उनके गोत्रसम्बन्धियों में से किसी की नहीं। और पिता की भी केवल 'सगोत्र' ही नहीं 'सपिण्ड' भी नहीं होनी चाहिए, ऐसा 'मनुस्मृति' का अभिप्राय 'कुल्लूकभट्ट' ने टीका में बताया है। 'पितृ-सपिण्ड' का अभिप्राय यह है कि पिता की बहन, अर्थात् 'फूफी' की तथा अन्य ऐसी परम्परा की औरस सन्तान वह कन्या नहीं होनी चाहिए—

"च कारात् पितृसपिण्डाऽपि, पितृष्वस्रादिसन्ततिभवा या न भवतीत्यर्थः।"
(कुल्लूकभट्टटीका। मनु. ३.५)

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी—

केवल 'मनुस्मृति' में ही नहीं, अन्य स्मृतियों में भी सगोत्र-सपिण्ड विवाह का निषेध किया गया है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में तो 'सगोत्रता-सपिण्डता' के अतिरिक्त 'अलक्षण्यता', 'रुग्णता', 'सचारिरोग दोषसमन्वितकुलवत्ता' आदि कुछ अन्य भी अवधेय बातें इस विषय में बताई गई हैं जिनसे युक्त कन्या के साथ विवाह नहीं करना चाहिए—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।
दशपुरुषविख्यातात् श्रोत्रियाणां महाकुलात्॥
स्फीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात्।
एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनप्रियः॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति)

अर्थात्, "अविच्छिन्न रूप में ब्रह्मचर्य का काल समाप्त कर चुकने के बाद ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह ऐसी कन्या (स्त्री) से विवाह करे जो सुलक्षणा हो, अक्षतयोनि हो, पहले विवाहित न हो चुकी हो, सुन्दर हो, सपिण्डा न हो, वय में बहुत छोटी न हो, रोगिणी न हो इकली (भ्रातृ-भगिनीरहित) कन्या न हो, समानार्ष-गोत्र वाली न हो, श्रोत्रियों (द्विजों, उपवीती-अधीती-परिवारों) के समाज में प्रशस्त कुल की हो, ऐसे कुल की न हो तो बड़ा भारी और धनमान् परन्तु जिसमें संचारी रोग स्थित हों, आदि। दूसरी ओर वर का भी इन्हीं गुणों से युक्त एवं दोषों से रहित होना आवश्यक है; वह सवर्ण हो, श्रोत्रिय (उपवीती-अधीती-दीक्षित-ब्रह्मचारी) हो

युवा हो, बुद्धिमान् हो, लोकप्रिय हो, और उसकी पुंस्त्वशक्ति (उत्पादक शक्ति) परीक्षक द्वारा सिद्ध हो चुकी हो।"

सगोत्र-सपिण्ड विवाह का निषेध क्यों ?

सगोत्र-सपिण्ड विवाह का निषेध तो सभी जगह किया गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'ऐसा निषेध क्यों किया गया'? ऐसे विवाहों में हानि क्या? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के उपरिलिखित उद्धरण में ही इस निषेध के कारण का इंगित दे दिया गया है। वहां जो 'सगोत्रता-सपिण्डता' के अतिरिक्त 'अलक्षण्यता', 'रुग्णता' 'संचारिरोगदोषसमन्वित-कुलवत्ता' आदि दोष बताए गए हैं, उन्हीं में इस प्रश्न का उत्तर भी निहित है - अन्यथा, 'सगोत्रता-सपिण्डता' के साथ संचारी रोगों-दोषों का ग्रहण क्यों किया जाता! जो हेतु संचारी रोगों-दोषों वाले कुल के परित्याग का है, वही सगोत्रता-सपिण्डता के भी परित्याग का है। इस सादृश्य पर तथा इसमें अन्तर्निहित रहस्य पर हम बाद में प्रकाश डालेंगे। पहले यह देख लें कि 'संचारी रोग' किन्हें कहा जाता है।

संचारी रोग

'संचारी रोग' का अर्थ है, सन्तति में आगे-आगे अनुवृत्त होने वाले रोग। माता-पिता से जो रोग सन्तान में अनुवृत्त अनुवाहित (inherited-transmitted) होते हैं, उन्हें 'संचारी रोग' कहते हैं। कुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति की टीका में वैद्यक-शास्त्र का यह मत उद्धृत किया है कि व्याधियां संचारी होती हैं और इस सामान्य नियम में अपवाद एकमात्र 'प्रवाहिका' (dysentery) ही है। उसके उद्धृत वैद्यक-वाक्य में 'संचारी' का पर्याय 'संक्रामी' भी दिया गया है; तद्यथा—

> 'व्याधयः संचारिणः' इति वैद्यकाः पठन्ति-
> 'सर्वे संक्रामिणो रोगा वर्जयित्वा प्रवाहिकाम्।'
> (कुल्लूकभट्टटीका। मनु. ३.७)

अर्थात्, इस मतानुसार सभी रोग माता-पिता से सन्तान में जाया करते हैं। इस विषय में 'चरकसंहिता' के 'यज्जः पुरुषीय' अध्याय का उल्लेख आवश्यक है। वहां (चरक। सूत्र अ. २५) इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि रोग शरीर में कहां से तथा कैसे आता है? इस सम्बन्ध में वहां अनेक मतों के बीच आचार्य कौशिक का यह मत बताया गया है कि माता-पिता के बिना 'षड्वातुज पुरुष' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, मनुष्य से मनुष्य जाति की ही उत्पत्ति होती है, गौ से गौ की तथा

अश्व से अश्व जाति की ही, और प्रमेह आदि रोग पैत्रिक (माता-पिता से अनुवृत्त) माने जाते हैं—अत: रोगोत्पत्ति में माता-पिता ही कारण हैं।

तथा ब्रुवाणं कुशिकमाह तन्नेति कौशिक: ।
कस्मान्मातापितृभ्यां हि विना षड्धातुजो भवेत् ॥
पुरुष: पुरुषाद् गौर्गोरश्वादश्व: प्रजायते ।
पित्र्या मेहादयश्चोक्ता रोगास्तावत्र कारणम् ॥
(चरक. । सूत्र. २५ १६.१७)

चरकचतुरानन चक्रपाणि ने इस सन्दर्भ की टीका में पिता (माता-पिता) से सन्तान में रोग की अनुवृति को स्पष्ट करते हुए कुष्ठ-अर्शस् आदि अन्य भी पैत्रिक रोगों की गिनती की है—"पितृतोऽपत्यं गच्छन्तीति पित्र्या:, आदिशब्देन कुष्ठार्श: प्रभृतयो ग्राह्या: ।" (चक्रपाणिटीका । चरक । सूत्र २५.१७)

यहां कुष्ठ और अर्शस् की भी गणना का यह निर्देश चक्रपाणि ने 'सुश्रुतसंहिता' के आधार पर किया है । वहां (सुश्रुत. । सूत्र. । अ. २४.५) सभी व्याधियों को उद्‌भव की दृष्टि से ७ वर्गों में बांटकर प्रथम वर्ग (आदिबलप्रवृत्त) में माता-पिता के शोणित (डिम्बाणु, ovum) एवं शुक्र (शुक्राणु, spermatozoon) द्वारा सन्तति में जानेवाले कुष्ठ-अर्शस् आदि रोगों का व्याख्यान किया गया है—

तत्र, आदिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणित दोषान्वया: कुष्ठर्श:
प्रभृतय:, तेऽपि द्विविधा: - मातृजा:, पितृजाश्च ।
(सुश्रुत । सूत्र २४.५)

इस सूत्र की टीका करते हुए 'डल्हण' ने प्रमेह-क्षय आदि रोग भी इस 'पैत्रिक' कोटि में गिनाए हैं और बताया है कि माता-पिता के क्रमश: शोणित (डिम्बाणु) एवं शुक्र (शुक्राणु) में स्थित वातादि दोषों से इन रोगों की उत्पत्ति होती है—

"आदिबलप्रवृत्ता दुष्टशुक्रशोणितबलजाता: । के ते इत्याह-
ये शुक्रशोणितदोषान्वया: इति; शुक्रशोणितस्थितवातादि-
दोषजनिता: । तानेव नामतो दर्शयति-कुष्ठार्श: प्रभृतय इति ।
प्रभृतिग्रहणान्मेहक्षयादय: । मातृजा इति मातु: शोणितजा:,
पितृजाश्चेति पितु: शुक्रजा: ।" (डल्हणटीका । सु. सू. २४.५)

संचरण और अनुवृत्ति

ऊपर हमने देखा है कि कुछ रोग माता-पिता से सन्तान में जाते हैं । ऐसे रोगों को 'संचारी रोग' (Hereditary or Inherited disease) कहते हैं तथा इस

प्रवृत्ति को 'अनुवृत्ति' (Heredity or Inheritance)। ऐसे रोगों को 'आदिबलप्रवृत्ति' (सुश्रुत) तथा 'प्रकृतिप्रभव' (भेलसंहिता) भी कहते हैं।

ऊपर हमने यह भी देखा है कि 'सुश्रुत' इन्हें 'शुक्र-शोणित-दोषान्वय' रोग मानता है। इसका अर्थ क्या है? डल्हण-कृत सुश्रुत-टीका के अनुसार इसका अर्थ है—'माता के शोणित तथा पिता के शुक्र में स्थित दोषों से उत्पन्न होने वाले।' इस संज्ञा का सीधा शब्दार्थ इस प्रकार बनेगा—'शुक्रं च शोणितं चेति शुक्रशोणितम्, तत्र स्थिता ये दोषास्ते शुक्रशोणितदोषाः, तान् अनु यन्ति अयन्ते वा इति 'शुक्रशोणित दोषान्वयाः'-'शुक्रशोणित-स्थितदोषानुगामिनः' इत्यर्थः। अर्थात्, शुक्राणु एवं डिम्बाणुओं spermatazoa & ova) में स्थित दोषों के अनुसार उत्पन्न होने वाले।

'आदिबलप्रवृत्त' का भी यही भाव है। डल्हण ने इसका अर्थ किया है—"आदिबलप्रवृत्ता दुष्टशुक्रशोणितबलजाताः।" (डल्हणटीका। सुश्रुत। सूत्र २४.५) अर्थात्, "दूषित शुक्र एवं शोणित (रोगादिदूषित शुक्राणु-डिम्बाणुओं) के बलाबल के आधार पर सन्तान में होने वाले रोग।" इससे भी 'संचरण' एवं 'अनुवृत्ति' (inheritance) का अर्थ निकलता है।

और, यही भाव 'भेलसंहिता' द्वारा प्रयुक्त संज्ञा 'प्रकृति-प्रभव' का भी प्रतीत होता है। 'प्रकृति' का अर्थ यहां बनेगा, "माता-पिता तथा उनके शोणित एवं शुक्र (डिम्बाणु-शुक्राणु)"। उनसे 'प्रभव' अर्थात् 'उत्पन्न होने वाले रोग। अर्थात्, इससे भी 'अनुवत्ति' (inheritance) का भाव निकला।

माता-पिता (पत्नी-पति) के डिम्बाणुओं (ova) एवं शुक्राणुओं (spermatozoa) के संयोग से सन्तति के प्रारम्भिक रूप का सूत्रपात होता है, और इसी संयोग से माता-पिता वाले संचारी या अनुवृत्तिशील रोगों की प्रवृत्ति का सूत्रपात भी सन्तति में होता है।

'अनुवृत्ति' की प्रक्रिया

अब, प्रश्न यह उठता है कि डिम्बाणु-शुक्राणुओं के द्वारा माता-पिता से सन्तति में जाने वाले इन संचारी रोगों की अनुवृत्ति की प्रक्रिया क्या होती है? डिम्बाणु-शुक्राणुओं द्वारा ये रोग सन्तति में जाते किस प्रकार हैं? इसके उत्तर के लिए हमें डिम्बाणु-शुक्राणुओं के स्वरूप एवं कार्य का विशेष अध्ययन करना होगा।

हम यह देखते हैं कि इस मर्त्यलोक में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी कुछ समय तक जीवित रहने के बाद मर ही जाता है। कुछ लोग जल्दी मरते हैं और

कुछ लोग देर में; परन्तु आयु चाहे कितनी भी लम्बी हो, प्रत्येक मर्त्य मरता अव है। मरने के बाद उसका शरीर नष्ट हो जाता है। धीरे-धीरे प्रत्येक तन्तु या छीज-छाज कर प्रकृति के पंचतत्वों में मिल जाता है। अर्थात्, उसका सारा श नष्ट हो गया, शरीर के सब घटक धातु नष्ट हो गए। इस प्रकार, उसका वैयक्ति शरीर नहीं बचा, परन्तु हम देखते हैं कि उसकी सन्तति में उसके गुण-दोष-आकृ स्वभाव-प्रकृति आदि सभी शेष हैं। केवल भावात्मक तत्व ही शेष नहीं है, अ चेहरा-मोहरा, रंग-अंग आदि सभी भौतिक बातें भी सन्तति में हूबहू उतर आई उसका भौतिक शरीर तो नश्वर था और नष्ट भी हो गया, परन्तु सन्तति में उसकी द्रव्यात्मक विशेषताएं भौतिक होने पर भी कैसे बची रह गई? उत्तर यह कि उसने उत्पादन-शक्ति के द्वारा इन बातों को अपनी सन्तति में पहुंचा दिया। ने बुझने मे पूर्व दूसरे दीये को जलाकर अपने को अमर कर दिया।

वस्तुतः प्रत्येक शरीर 'कोशाणु (cell सेल) नामक जिन इकाइयों से बना हो है वे दो प्रकार की होती हैं। कोशाणु इस दृष्टि मे द्विविध होते हैं, मर्त्य और अ (myrtal and immortal)। प्रथम तो इस शरीर के विविध धातुओं एवं अंगावय के उपादान होते हैं तथा इस मर्त्य शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, परन्तु द्वि अर्थात् अमर कोशाणु प्राण की जोत आगे-आगे जलाते जाते हैं और कभी नहीं मर प्रथम कोटि वालों को 'दैहिक' (somatic) कहते हैं, तथा द्वितीय कोटि वालों उत्पादक (reproductive)। ये द्वितीय कोटि वाले कोशाणु स्वयं तो मरते ही न अपितु अपने माध्यम से उस मूल प्राणी को सन्तति-अनुवृत्ति के रूप में सदा जीवि (सदाजीवी) बनाए रखते हैं। हमारे परिचित डिम्बाणु (ova) और शुक्रा (spermatozoa) वस्तुतः उत्पादकाणु होने के कारण इसी द्वितीय कोटि में आते और अमर कोशाणु कहाते हैं। स्वयं भी अमर हैं और अपने मूल-अधिष्ठान मूल प्रा को भी अमर बनाए रखते हैं।

मर्त्यलोक में अमर जीव

माता-पिता (अर्थात्, पत्नी पति) जब परस्पर संयोग करते हैं तो उ अमर कोशाणु, अर्थात् डिम्बाणु-कोशाणु, उस घटना के बाद परस्पर मिल जाते और मिलकर एक नई पूर्ण इकाई बना देते हैं। वह इकाई नये प्राणी का प्रारम्भि रूप होती है। उस इकाई में पहले वही एकम-एक अमर कोशाणु रहता है। उस बाद, एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह, इस प्रकार द्विगुण-पद्ध से कोशाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे उस मूलवर्ती एक पूर्ण अ कोशाणु के चारों ओर नए कोशाणुओं की इतनी प्रभूत मात्रा एकत्र हो जाती है

उससे नये अंगावयव एवं धातु बन जाते हैं। वे सब मर्त्य कोशाणु होते हैं। और, उन सब का मूलाधार वह अमर कोशाणु 'मर्त्यलोक में अमर जीव' के समान स्थित होता है। उसमें से उस जैसे अमर कोशाणु भी अभिव्यक्त होते हैं, जिन्होंने जीवन की जोत आगे-आगे चलानी-जलानी होती है। इस प्रकार, मर्त्यलोक में अमर जीव सदा अमर बना रहता है और अपने चारों ओर आवश्यकतानुसार मर्त्य कोशाणुओं को जुटाता है (इस घटना को 'जन्म' कहते हैं) जो अपनी जीवनावधि समाप्त हो जाने के बाद निर्जीव हो जाते हैं (इस घटना को 'मृत्यु' कहते हैं) परन्तु वह मूल कोशाणु 'मर्त्यलोक में अमर जीव' बना रहता है।

और में भी 'और'

ये 'अमर जीव', अर्थात् डिम्बाणु-शुक्राणु (उत्पादक कोशाणु) और भी अधिक चमत्कारपूर्ण कार्य करते हैं, वह है, माता-पिता से गुण-दोष की अनुवृत्ति सन्तान में। हम अपने चारों ओर स्पष्टतया देखते हैं कि सन्तान का चेहरा-मोहरा, रंग-ढंग, अंग-प्रत्यंग, यहां तक कि ऊंचाई-चौड़ाई-मोटाई, सुस्ती-चुस्ती, स्वभाव-आदतें आदि भी, माता-पिता के अनुरूप ही होती हैं। यह चमत्कार इन अमर कोषाणुओं के द्वारा सम्पन्न होता है। ये ही माता-पिता से उनके सब गुण-दोषों को सन्तान में ले जाते हैं, अनुवृत्त करते हैं। यह प्रक्रिया वस्तुतः चमत्कार ही है।

इस विषय मे एक उदाहरण देना उचित है। वट का बीज कितना छोटा होता है। परन्तु जब वह समुचित क्षेत्र में पड़ता है तथा उसे अनुकूल परिस्थिति जल आदि मिलता है, तो कालान्तर में उससे कितना विशाल वट-वृक्ष बन जाता है। उस वृक्ष के मूल-विशाल काण्ड-शाखाएं, जटा-जूट, असंख्य पत्र-फलादि सब कहीं बाहर से लाकर जोड़ नहीं दिए गए, अपितु उसी अतिसूक्ष्म वट-बीज में से फूटे-निकले हैं। कितना विशाल वट-वृक्ष उस छोटे-से 'बीज' कण में छिपा पड़ा था। इसी प्रकार, प्राणी का विशाल शरीर एवं उसकी इतनी बहुमुखी प्रवृत्तियां तथा विशेषताएं सब उसी मूल अमर जीव (अमर कोशाणु, उत्पादक कोशाणु) में से आई हैं। माता-पिता की विशेषताओं एवं गुण-दोषों को भी ढोकर सन्तति में लाने वाले उत्पादक कोशाणु (डिम्बाणु-शुक्राणु) ही हैं।

डिम्बाणु-शुक्राणुओं द्वारा सम्पन्न होने वाले इस चमत्कार का रहस्य समझने के लिए हमें उनकी सूक्ष्म रचना का अध्ययन करना होगा। प्रत्येक कोशाणु के मध्य में एक केन्द्र 'न्यष्टि' (nucleus) नामक रहा करता है। जब एक कोशाणु से द्विविभाजन-पद्धति (binary fission method) द्वारा दो कोशाणु बनते हैं तो उस

प्रक्रिया में 'न्यष्टि' का विभाजन होता है; उस समय न्यष्टि में कुछ सूत्राकार सूक्ष्म रचनाएं प्रकट होती हैं जो रंगने पर गहरा रंग पकड़ती हैं. इन्हें 'गुणसूत्र' (रंगकण वर्णसूत्र, पित्र्यसूत्र, (chromosomes) कहते हैं। द्विविभाजन के अतिरिक्त समय में ये सूत्र बहुत स्पष्ट नहीं दीखते। ये सामान्यतः युग्मों (pairs) में रहा करते हैं और प्रत्येक प्राणी-जाति या प्राणी-योनि में इन सूत्रों की संख्या निश्चित तथा स्थिर ही रहती है। मानवयोनि (मानव-जाति) में इन वर्णसूत्रों (गुणसूत्रों, पित्र्यसूत्रों) की संख्या २४ (अर्थात् १२ युग्म) हैं, इस संख्या में न्यूनाधिकता होने पर मानव के बजाए अन्य प्राणी की उत्पत्ति होगी। इन सूत्रों में यह विशेषता रहती है कि ये जातिगत गुणों के अतिरिक्त लिंग-भिन्नता का एवं माता-पिता के गुणदोष का भी वहन करते हैं और जब उत्पादक कोशाणु परस्पर मिलकर नये प्राणी की सृष्टि करते हैं तो उसके भीतर इन सब ढोये हुए गुण-दोषों-विशेषताओं को ले जाते हैं। माता-पिता (पति-पत्नी) में जब डिम्बाणु-शुक्राणु के विकास का चरम चरण घटित होता है तो द्विविभाजन के समय इन सूत्रों के युग्म इकाइयों में विभक्त हो जाते हैं, फलतः मानव के विकसित डिम्बाणु-शुक्राणु में प्रत्येक में इन सूत्रों के १२ युग्म नहीं, अपितु १२ पृथक् सूत्र रहते हैं। जब पत्नी-पति संयोग के बाद १२-१२ सूत्रों वाले डिम्बाणु-शुक्राणु परस्पर मिलते हैं, तो संयुक्त कोशाणु-इकाई में इन सूत्रों के पुनः १२ युग्म हो जाते हैं। उसी इकाई से अगले जीवन का प्रारम्भ होता है। उस इकाई में माता-पिता के गुण-दोष इन सूत्रों के माध्यम से सीधे ही चले जाते हैं।

मूल प्राणी के गुण-दोषों को सन्तति में अनुवृत्त करने वाले इन पित्र्यसूत्रों (वर्णसूत्रों, गुणसूत्रों) में इन गुण-दोषों के वहन का कार्य 'जीनें' (genes, पित्र्यैक, गुणघट, 'जन') करती हैं। ये 'जीनें' पूर्वोक्त सूत्रों (वर्णसूत्रों, पित्र्यसूत्रों, गुणसूत्रों) में स्थित रहती हैं, 'गौर' (गौड़) में 'औौर' (औड़) की तरह। **सन्तति में जातिगत-लिंगात्मक-प्रकृत्यात्मक विशेषताओं एवं गुण-दोषों को ले जाने (वहन) का चमत्कार वस्तुतः ये 'जीनें' ही करती हैं।** पूर्वोक्त 'सूत्र' (वर्णसूत्र, पित्र्यसूत्र, गुणसूत्र) तो इन गुणदोष-वह 'जीनों' को अपने में धारण किए रहते हैं। इस प्रकार, यह अनुवृत्ति-सम्बन्धी 'गौर में और' यों बना—मर्त्य कोशाणुओं के बीच अमरजीव (उत्पादक कोशाणु), उनके बीच न्यष्टि में स्थित वर्णसूत्र, उनके बीच स्थित 'जीनें' और उनमें स्थित वाहनीय गुणदोष जिनकी अनुवृत्ति सन्तति में होती है, सूक्ष्म 'बीज'-कण से विशाल वट-वृक्ष बनना है। यह हुआ सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय वट-बीज, जिसमें से होकर उसकी विविध विशेषताएं तथा गुण-दोष अनुवृत्तियां फूट निकलती हैं।

अर्थात्, माता-पिता (पत्नी-पति) के डिम्बाणुओं-शुक्राणुओं के वर्णसूत्रों के

भीतर स्थित 'जीनों' में जितने गुण-दोष जिस अनुपात में बैठे होंगे उन सब का सन्तति में अनुवर्तन-अनुवाहन (inheritance, transmission) इन जीनों, वर्णसूत्रों, शोणित-शुक्राणुओं के द्वारा हो जाएगा। गुण हों चाहे दोष, दोनों को ही तात्त्विक दृष्टि से 'गुण' (characteristics, properties) की संज्ञा दी जा सकती है। माता-पिता के ऐसे 'गुण' (या, सुश्रुत की भाषा में, 'दोष') परस्पर 'समान भी हो सकते हैं और 'पूरक' या 'विरोधी' भी। 'समान' या 'सम' होंगे तो 'गुण' (या दोष') की वृद्धि करेंगे, और 'विरोधी' होने पर एक-दूसरे को नष्ट या उदासीन कर डालेंगे अथवा 'द्वन्द्व' ही मचा देंगे ('सामान्यमेकत्वकरं, विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्। तुल्यार्थता हि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः॥' चरक। सूत्र १.४५ तथा च वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।') 'पूरक' गुण दोनों दिशाओं से आने पर 'सम' (balanced) की स्थिति हो जाएगी। सह सम्मिश्रण रचनात्मक, कार्यात्मिक, भौतिक, मानसिक, प्रकृतिगत, स्वभावगत, प्रवृत्तिगत सभी प्रकार का होता है। अंगावयवों के गुणदोष तथा रोग (रोगानुकूल्य) की स्थिति भी इसी प्रकार अनुवृत्त होती है।

बीजोपतप्ति सिद्धान्त

उत्पादक कोशाणुओं (शोणित, शुक्र या 'बीज') के माध्यम द्वारा माता-पिता से सन्तान में अनुवृत्त होने वाले रचनात्मक-कार्यात्मिक आदि गुण-दोषों की अनुवृत्ति के समुदित रूप का बहुत सुन्दर विश्लेषण 'चरकसंहिता' में किया गया है। इस विश्लेषण को 'बीजोपतप्ति-सिद्धान्त' कह सकते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि सारा शरीर उन उत्पादक कोशाणुओं (शोणित-शुक्र) में से बना है। यहां, इन्हें समवेत रूप में 'बीज' माना गया है। यद्यपि 'मनुस्मृति'* में तथा अन्य भी ग्रन्थों में 'पुरुष' को 'बीज' कहा गया है तथा 'स्त्री' को 'क्षेत्र', परन्तु 'स्त्री' को 'क्षेत्र' मानने पर भी उनमें का 'डिम्बाणु' (शोणित, ovum) भी 'बीज' का अर्धभाग ही होता है। 'बीज' का प्रधान अर्धभाग पुरुष का 'शुक्राणु' होता है। अस्तु, इस 'बीज' (संयुक्त 'बीज' में सामूहिक रूप से तथा दोनों 'बीजार्थों' में दोनों ओर से) में प्रत्येक अंगावयव के निर्माता या तत्सम्बद्ध पृथक्-पृथक् 'बीजभाग' रहते हैं और उनके भी भीतर सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'बीजभागावयव' रहते हैं जिनके आधार पर तत्तदारब्ध अंगावयव का, उसके भी सूक्ष्मांश का, प्राकृत या वैकृत निर्माण निर्भर करता है। 'चरकसंहिता' में यह सिद्धान्त निम्नलिखित रूप में वर्णित है—

* क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥ (मनुस्मृति ९.३३)

'यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्यांगावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात् । (चरक । शारीर ३.१७)

अर्थात्, शरीर के जिस-जिस अंग-प्रत्यंग-अवयव के उत्पादक बीजभाग (बीजांश) में उपताप या विकार स्थित रहता है, उस-उस अंग-प्रत्यंग-अवयव में विकृति आ जाती है; और यदि मूल बीज या बीजभाग में उपताप न हो तो अंगावयव में विकृति भी नहीं आती। इस सूत्र पर चक्रपाणि की टीका इस प्रकार है—

"बीज इति शुक्रशोणिते। बीजस्यांगप्रत्यंगनिर्वर्तको भागो बीजभागः।...एवं मन्यते—मनुष्यबीजं हि प्रत्यंगबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यंगसमुदायरूपपुरुषजनकं,...तेन पिता यदि कुष्ठ्यपि भवति, बीज चादुष्टं भवति कुष्ठाधारत्वगादिजनकं, ततो निष्कुष्ठान्येव त्वगादीन्यनुपतप्तत्वगादिबीजात् सदृशानि जायन्ते; यदा त्वतिवृद्धकुष्ठतया पित्रोर्बीजमपि कुष्ठजनकदोषेण दुष्टं भवति, तदा दुष्टत्वगादिबीजभागात् कुष्ठदुष्टैव त्वग् जायते। यदुक्तं—'दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्ट-शोणितशुक्रयोः। यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्।' (सुश्रुत। निदान ५.२८) इति। एवं कुष्ठिनोऽपि यदि हेतुबलाद् बीजे कुष्ठजनको दोषो भवति, तदा कुष्ठिनोऽपि कुष्ठवदपत्यं भवति।... यदाऽन्धेऽपत्ये दृष्ट्युपघातकमशुभं भवति, तदा काकतालीयन्यायादन्धजातोऽप्यन्धो दृश्यते। एवं कुब्जादौ जडादौ च व्याख्येयम्।"

(चक्रपाणिटीका। चरक। शारीर ३.१७)

अर्थात्, 'बीज' का अर्थ है, शक्र (शुक्राणु) और शोणित (डिम्बाणु)। 'बीज' में जो आगामी शरीर के अंग-प्रत्यंग का निर्माता भाग रहता है वह 'बीजभाग' कहाता है। तो, मत यह बना—मनुष्य का 'बीज' अपने-सदृश अंग-प्रत्यंग के समुदाय-रूप पुरुषशरीर को उत्पन्न करने वाला होता है और उसमें प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को उत्पन्न करने वाले पृथक्-पृथक् 'बीजभाग' रहते हैं। इसलिए यदि पिता 'कुष्ठी' हो, परन्तु यदि कुष्ठ की अधिष्ठानभूत त्वचा आदि को उत्पन्न करने वाला बीजभाग कुष्ठ दोष-दूषित न हो पाया हो, तो त्वचा आदि के आरम्भक बीजभागों में 'उपताप (दुष्टि) न होने के कारण सन्तान को त्वचा आदि में कुष्ठ का विकार नहीं आवेगा और वे स्वस्थ ही होंगी। दूसरी ओर, यदि माता-पिता में कुष्ठ बहुत बढ़ा हुआ होने के कारण 'बीज' में भी कुष्ठजनक दोष पैठ चुका हो तो त्वचा आदि का आरम्भक 'बीजभाग' कुष्ठ से दूषित होने के कारण उससे बनी त्वचा आदि भी कुष्ठ से दूषित होगी। जैसा कि सुश्रुत में कहा भी है—"कुष्ठ की अधिकता के कारण यदि पत्नी-पति के शोणित शुक्र भी दूषित हो पावें तो उनसे उत्पन्न सन्तान में भी कुष्ठरोग होगा।"

(सु० नि० ५.२८)।* इस प्रकार, कुष्ठ-पीड़ित व्यक्ति में भी कुष्ठजनक कारणों से 'बीज' में कुष्ठजनक दोष पैठ जावेगा तो उस कुष्ठी से अपत्य भी कुष्ठी होगा। इसी प्रकार, यदि अन्धे अपत्य के दृष्टिजनक बीजभाग में दृष्टिनाशक अशुभ उपताप हो जावे तो 'काकतालीयन्याय' से अन्धे का अपत्य भी अन्धा ही होता देखा जाता है। यही बात कुबड़े, जड़ आदि पर भी लागू होती है। (चक्रपाणिटीका का हिन्दी अनुवाद। चरक। शारीर ३.१७)।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि चरक-सम्प्रदाय (मूलत: आत्रेय-सम्प्रदाय) को यह समग्र विषय पूर्णतया विशद रूप में विज्ञात था। आज का विज्ञान जो हमें यह बताता है कि डिम्बाणु-शुक्राणुओं के न्यष्टियों में स्थित वर्णसूत्रों (पित्र्यसूत्रों. गुणसूत्रों) में विद्यमान 'जीनों' (गुणघटों, पित्र्यैकों) द्वारा माता-पिता से जातिगत तथा पैत्रिक गुण-दोषों और विकृतियों-विकारों (anatomical and physiological defects and disorders) का अनुवर्तन-प्रनुवाहन होता है, वह विषय अच्छी प्रकार से आत्रेय-सम्प्रदाय वालों को ज्ञात था, और उसका बीजोपतप्ति-सिद्धान्त के द्वारा विशद व्याख्यान किया गया है। इस विषय में 'चरकसंहिता' से कुछ अन्य उद्धरण भी अवतारणीय हैं—

"यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषा: प्रकोपमापद्यंते, तं तमवयवं विकृतिराविशति। यदा ह्यस्या: शोणिते गर्भाशयबीजभाग: प्रदोषमापद्यते, तदा वन्ध्यां जनयति; यदा पुनरस्या: शोणिते गर्भाशयबीजभागावयव: प्रदोषमापद्यते, तदा पूतिप्रजां जनयति··· ।" (चरक। शारीर ४.३०)

अर्थात्, जिस जिस अवयव के उत्पादक 'बीज' में या 'बीजभाग' (सूक्ष्म बीजांश) में दोषों का प्रकोप अधिष्ठित हो जाता है, सन्तति के उसी-उसी (बीजभाग से आरब्ध) अवयव में विकृति आ बैठती है। यदि माता के 'शोणित' (डिम्बाणु में गर्भाशय का आरम्भक 'बीजभाग' दोषापन्न हो जाता है तो सन्तान 'वन्ध्या' होती है; और जब माता के 'शोणित' (डिम्बाणु) में गर्भाशय (के किसी एकदेश) के आरम्भक बीजभाग का भी कोई विशिष्ट अवयव दूषित हो जाता है, तो सन्तान 'पूतिप्रजा' (जिसकी अपनी सन्तानें मर जाया करें या सदोष हुआ करें) उत्पन्न होती हैं।

---

* यह सूत्र उपलब्ध सुश्रुतसंहिता' में इस प्रकार लिखा है :

स्त्रीपुंसयो: कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयो:।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्॥ (सुश्रुत निदान ५.२८)

इस पर चक्रपाणि टीका का सम्बद्ध अंश इस प्रकार है—

"बीज इति कृत्स्न एवारम्भके बीजे। बीजभागे वेत्यवयवबीजस्यैकदेशे। एतां विकृतिमेव शृगग्राहिकतया बक्तुमाह—यदेत्यादि। शोणित इत्यार्तवे। गर्भाशयजनको बीजभागो गर्भाशयबीजभागः; किं वा गर्भाशयस्य तथा बीजस्य चार्तवरूपस्य जनको भागः। प्रदोष इत्यत्र प्रशब्देन दुष्टिप्रकर्षं प्रकृष्टवन्ध्यतारूपकार्यजनकं दर्शयति। गर्भाशयस्य तथाऽऽर्तवस्य चोपघातेन स्त्रियाः वन्ध्यत्वं व्यक्तमेव। गर्भाशयबीजभागावयव इत्यत्रापि पूर्ववद् व्याख्येयम्। अवयवशब्देन गर्भाशयस्य आर्तवस्य चैकदेश इहोच्यते। पूतिप्रजामिति म्रियमाणापत्याम्; अन्ये तु क्लिन्नांगप्रत्यंगां पूतिमाहुः। स्त्रीकराणां शरीरबीज भागानामिति स्त्रीत्वव्यञ्जकस्तनोपस्थलोमराज्यादिजनकबीजभागानाम्।"
चक्रपाणिटीका। चरक। शारीर ४.३०

अर्थात्, 'बीज का अर्थ है, माता में स्थित समूचा बीज (समूचा 'डिम्बाणु)। 'बीजभाग' का अर्थ है, किसी विशेष अवयव के आरम्भक 'बीज का एकदेश' (एक अंश)। इसी विकृति को कुछ उदाहरणों के द्वारा बताया जा रहा है, 'यदा' इत्यादि से। 'शोणित' का अर्थ है, 'आर्तव' (डिम्बाणु, अन्तःपुष्प)। 'गर्भाशयबीजभाग' का अर्थ है, 'गर्भाशय का उत्पादक बीजभाग', अथवा 'गर्भाशय' तथा 'बीज' अर्थात् 'आर्तव' (डिम्बाणु, अन्तःपुष्प) का आरम्भक भाग। 'प्रदोष' का अर्थ है 'प्रबल दोष' या 'अत्यधिक दुष्टि'; इसके द्वारा 'वन्ध्यता'-रूपी महत्वपूर्ण परिणाम आता है यह बताया है। गर्भाशय तथा आर्तव (डिम्बाण) के उपघात द्वारा 'वन्ध्यता' होना स्पष्ट ही है। 'गर्भाशयबीजभागावयव' की व्याख्या भी पहले जैसी करनी चाहिए (अर्थात्, 'गर्भाशय के आरम्भक बीजभाग का एक अंश' या 'गर्भाशय और डिम्बाणु के आरम्भक बीजभागों के एकांश')। 'अवयव' का अर्थ यहां है, गर्भाशय और आर्तव (डिम्बाणु) के एकदेश। 'पूतिप्रजा' का अर्थ है, ऐसी सन्तान (कन्या) जिसकी अपनी सन्तानें ही 'मृत' या म्रियमाण' हुआ करें; अथवा, जिसकी सन्तानों के अंग-प्रत्यंग सड़े-गले हुआ करें। 'स्त्रीकराणां शरीरबीजभागानाम्' का अर्थ है, स्तन-भगलोमराजी आदि स्त्रीत्व-व्यंजक लक्षणों के आरम्भक बीजभागों का। (चक्रपाणिटीका का हिन्दी अनुवाद)।
(च. शा. ४.३०)

चरकसंहिता में आगे कहा है—

"एवमेव पुरुषस्य यदा बीजे बीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा वन्ध्यं जनयति; यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते, तदा पूतिप्रजं जनयति; यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति, तां पुरुषव्यापदमाचक्षते।"
(चरक। शारीर ४.३)

अर्थात्, इसी प्रकार, जब पुरुष (पिता) के बीज (शुक्राणु) में शुक्राणु-उत्पादक अंश प्रबल दोषापन्न होता है, तो अपत्य 'नपुंसक होता है; जब समूचा बीजभाग तो नहीं परन्तु उसका एक विशिष्ट एकदेश प्रदुष्ट होता है तो उससे पुत्र 'पूतिप्रज' उत्पन्न होता है; और जब बीज में बीजभागावयव की प्रदुष्टि के साथ-साथ पुरुषत्व-व्यंजक शरीरभागों, शरीरभावों, व्यापारों के आरम्भक बीजभागों के एकदेश में प्रदुष्टि होती है तो पुत्र की आकृति बहुत-कुछ पुरुषसदृश तो होती है परन्तु मैथुनेच्छा होने पर भी मैथुनसामर्थ्य तथा उत्पादन शक्ति नहीं होती, ऐसी सन्तान को 'तृणपुत्रिक' कहते हैं।

यहां भी बीज, बीजभाग एवं बीजभागावयव के दूषित होने तथा उस दुष्टि के माध्यम से सन्तान में विकृति एवं विकार की अनुवृति एवं अनुवाहन होने का व्याख्यान किया है। यहां दिए गए कुछ उदाहरण तो दिङ्निर्देशमात्र के लिए हैं, जैसा कि चक्रपाणि ने कहा है। वास्तव में इस विषय का विस्तृत ज्ञान तब प्रचलित था। प्राचीनकाल में यह विज्ञान इतना गम्भीर एवं विस्तृत था, इससे हर्ष एवं आश्चर्य दोनों के भाव मन में आते हैं तथा गर्व भी होता है।

अनुवृत्तिवाद

इस प्रकार हमने देखा कि माता-पिता के गुण-दोष डिम्बाणु-शुक्राणुओं में स्थित वर्णसूत्रों एवं 'जीनों' द्वारा सन्तति में अनुवृत्त-अनुवाहित होते हैं। इस सिद्धान्त को 'अनुवृत्तिवाद' (Law of Inheritance; आनुवंशिकतावाद) कहते हैं। माता-पिता में रोग भी हो सकते हैं और वे भी 'संचारी' या 'अनुवृत्तिशील' (inheritable, hereditary)। ऐसे रोग माता-पिता के बाद सन्तान में भी होते पाए जाते हैं; इसीलिए कई रोग तो पैत्रिक (hereditary) या पारिवारिक (familial) भी कहलाते हैं। इन वर्गों में किन-किन रोगों की गणना की जा सकती है, इस विषय में बड़ा मतभेद चला आ रहा है। कुछ विद्वान् अनेक रोगों की गणना करते हैं और कुछ का मत है कि रोग कोई भी अनुवृत्त नहीं होता, अपितु रोग के लिए अनुकूलता की प्रवृत्ति (रोगप्रवृत्ति, रोगपराजेयता अभिभवनीयता, susceptibility) अवश्य अनुवृत्त होती है जिसके आधार पर बाद में रोग उत्पन्न हो जाता है। मतभेद का आधार यह है कि 'मैण्डेल के सिद्धान्त' पर रोग-अनुवृति शायद पूरी तरह खरी नहीं उतरती; हां, रोगप्रवृत्ति (अभिभवनीयता) की अनुवृत्ति तथा तत्तद् रोगाधिष्ठानभूत अंगावयव की निर्बलता (अभिभवनीयता) की अनुवृत्ति अवश्य सही निकलती है। अर्थात्, अधिक पुष्ट मत यह है कि रोग नहीं अपितु रोगानुकूलता (अभिभवनीयता) सन्तति में अनुवृत्त हुआ करती है जिसके आधार पर बाद में रोगोत्पत्ति हो जाती है।

मैण्डेल का सिद्धान्त

'अनुवृत्तिवाद' (Law of Inheritance) में मैण्डेल का सिद्धान्त बहुत महत्व-पूर्ण आधार माना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता का पूरा नाम था, ग्रेगर जोहान मैण्डेल (Gregor Johann Mendel; 1822-1884)। वह एक आस्ट्रियावासी पादरी एवं प्रकृतिविज्ञानी था। उसने अनेकों परीक्षणों के बाद 'अनुवृत्ति सिद्धान्त' का यह निश्चित सूत्र सन् १८६६ में स्थापित किया कि माता-पिता के गुण-दोष उनसे तीसरी पीढ़ी में तीन-चौथाई सबल एवं एक-चौथाई निर्बल के रूप में अनुवृत्त होते हैं और इस अनुवृत्ति की परम्परा एक विशेष अनुपात एव सूत्र के द्वारा उत्तरोत्तर सन्तति में चलती जाती है। मैण्डेल का यह सिद्धान्त 'अनुवृत्तिवाद' का आधार बन गया जिसके अनुसार आगे के वैज्ञानिकों ने यह खोज शुरू की कि क्या रोग भी इसी रूप में तथा इसी अनुपात (३:१) में माता-पिता से सन्तान में अनुवृत्त होता है। इस सम्बन्ध में अधिक पुष्ट मत क्या है, उसका वर्णन हम पिछले पैराग्राफ में कर आए हैं।

मैण्डेल का यह सिद्धान्त किन परीक्षणों पर आधारित था? यति मैण्डेल ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के परीक्षण किए, जिनमें से प्रसिद्धतम परीक्षण मटर के पौधों वाले हैं। उसने मटर के पौधे दो प्रकार के लिए—लम्बे (ल) तथा छोटे (छ)। दोनों का परस्पर संयोग कराने पर अगली (दूसरी) पीढ़ी में पैदा हुए पौधे मिश्र (न लम्बे न छोटे, अपितु बीच के) थे। इन मिश्र (लछ) का परस्पर संयोग (लछ × लछ) कराने पर जो सन्तति आई उसमें अनुपात इस प्रकार आया—लल, लछ, लछ, छछ; अर्थात् २५% शुद्ध लम्बे, २५% शुद्ध छोटे, तथा ५०% मिश्र जिनमें लम्बापन अधिक स्पष्ट था। २५% शुद्ध लम्बों का परस्पर संयोग (लल × लल) कराने पर सारे पौधे शुद्ध लम्बे हो आए और आगे की पीढ़ियों में भी लम्बे ही होते रहे; २५% शुद्ध छोटों का परस्पर संयोग (छछ × छछ) कराने पर सारे पौधे शुद्ध छोटे ही आए और अगली सारी पीढ़ियों में भी शुद्ध छोटे ही होते रहे। परन्तु तीसरी पीढ़ी के ५०% मिश्र पौधों का परस्पर संयोग (लछ × लछ) कराने पर वही परिणाम आया—लल, लछ, लछ, छछ; अर्थात् २५% शुद्ध लम्बे, २५% शुद्ध छोटे तथा ५०% मिश्र पौधे जिनमें लम्बापन स्पष्टतर तथा प्रबलतर dominant) था। इसी प्रकार के परीक्षण वह आगे वाली पीढ़ियों में भी करता गया और हरबार तीसरी पीढ़ी वाला निष्कर्ष निकला। इस से यह निष्कर्ष उसने निकाला कि निर्बल-सबल गुण का परस्पर संयोग कराने पर तीसरी पीढ़ी में २५% शुद्ध सबल, २५% शुद्ध निर्बल तथा ५०% मिश्र गुण आते हैं जिनमें मिश्रों में भी सबल गुण बलवान

होता है। इस परीक्षण में सबल (dominant) गुण लम्बापन था तथा निर्बल (recessive) गुण छोटापन। अतः तीसरी पीढ़ी का अनुपात बना—लम्बापन : छोटापन : : ३ : १। यही अनुपात आगे की पीढ़ियों में जाता है। ऐसा ही परीक्षण सफेद (निर्बल गुण) तथा काले (सबल गुण) रंग वाले चूहों में किया गया, जिससे तीसरी पीढ़ी में २५% शुद्ध सफेद (निर्बल रंग), २५% शुद्ध काले (सबल रंग) तथा ५०% धूसर (जिसमें कृष्णता सबल थी) रंग वाले चूहे आए। उससे भी सबल-निर्बल का वही ३ : १ वाला अनुपात आया। मुर्गों आदि में भी ऐसे ही परीक्षण किए गए और यही अनुपात निकला। इन्हीं परीक्षणों के आधार पर मैण्डेल ने अपना उपरिलिखित सिद्धान्त स्थापित किया।

गाल्टन का सिद्धान्त

अनुवृत्ति के सम्बन्ध में मैण्डेल के उपरिलिखित सिद्धान्त के अतिरिक्त अंग्रेज वैज्ञानिक गाल्टन (फ्रान्सिस गाल्टन, Francis Galton: 1822-1911) का सिद्धान्त भी प्रचलित है। इसके अनुसार सन्तान में माता-पिता दोनों से चौथाई-चौथाई (कुल मिलाकर सन्तति के आधे) गुण आते हैं; दादा-दादी, नाना-नानी इन चारों में से प्रत्येक से १/१६ (अर्थात्, कुल मिलाकर १/४) गुण आते हैं, और इस प्रकार पीछे की पीढ़ियों (परदादा-परदादी, परनाना-परनानी नगड़दादा-नगड़दादी, नगड़नाना-नगड़नानी आदि) अनुवृत्त का अनुपात यथापूर्व व्यस्त-चतुर्थांश अनुपात में घटता जाता है। यह यथापूर्व गुणानुवृत्ति की परम्परा उस पूर्वीय पीढ़ी पर समाप्त हो जाती है जहां तक के इस व्यस्त अनुपात से प्रस्तुत सन्तान में अनुवृत्त गुणों का योग एक इकाई बन जाता है। इसीलिए, मनुस्मृति में इस दृष्टि से सपिण्डता की अवधि पिछली छः पीढ़ियों तक की मानी जाती है,* और पिछली सातवीं पीढ़ी में विवाह निषिद्ध नहीं माना जाता। अस्तु, 'गाल्टन का अपवर्तिता-सिद्धान्त' (Galton's Law of Regression) भी इस सम्बन्ध में प्रचलित है, जिसका स्वरूप यह है कि—औसत प्रकार के माता-पिता से औसत सन्तान होती है; ऋणात्मक माता-पिता से ऋणात्मक सन्तान; धनात्मक माता-पिता से धनात्मक सन्तान; परन्तु पराकाष्ठा वाले माता-पिता चाहे धनात्मक हों या ऋणात्मक, उनकी सन्तति में उनके गुण-दोष हीन रूप में आते हैं, चाहे वे माता-पिता में पर्याप्त स्पष्ट एवं प्रबल भी रहे हों। इस पिछले वर्ग में यह विचित्रता भी एक विशेष सूत्र के अनुसार होती है, और सम्भवतः इस अपवर्तन (regression) के रूप में प्रकृति सन्तति में सन्तुलन ला रही होती है।

---

* 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।'   (मनुस्मृति ५.६०)

सबल निर्बल गुणदोष

अनुवृत्ति में चाहे तो मैण्डेल सिद्धान्त लागू हो चाहे गाल्टन का, एक बात स्पष्ट है कि माता-पिता के सबल (dominant) गुण या दोष निर्बल (recessive) या प्रच्छन्न-प्रसुप्त (dormant) गुण-दोषों पर हावी होकर अधिकतर सन्तति में अनुवृत्त हुआ करते हैं। परन्तु अनिवार्य और ऐकान्तिक नियम नहीं है। कभी ऐसा भी हो सकता है कि माता के डिम्बाणु-शुक्राणु में प्रसुप्त-प्रच्छन्न पड़े हुए निर्बल गुण-दोष ही प्रबुद्ध एवं प्रबल होकर सन्तान में अनुवृत्त हो जावें। ऐसा प्रायः तभी होता है जब कि माता-पिता दोनों में ही वही उसी प्रकार का प्रसुप्त-प्रच्छन्न निर्बल गुण-दोष आ मिले, अर्थात् जब माता और पिता (पत्नी-पति) दोनों उद्भव की दृष्टि से ऐसे परिवार से आ रहे हों जिस वंश या परिवार में एक ही प्रकार का ऐसा निर्बल गुण-दोष अब तक प्रसुप्त-प्रच्छन्न चला आ रहा हो। अकस्मात् जब कभी ऐसे सगोत्र-सपिण्ड वर-कन्या परस्पर विवाह बन्धन में आबद्ध हो जावें और सन्तानोत्पत्ति करें तो उनके वंश या परिवार या गोत्र में चले आ रहे प्रसुप्त-प्रच्छन्न निर्बल गुण-दोष प्रबुद्ध होकर सन्तति में अनुवृत्त हो जाते हैं और विकृति विकार या रोग की उत्पत्ति बाद में कर देते हैं। ऐसी अनुवृत्ति को 'सामान्य निर्बल अनुवृत्ति' (Simple Recessive Inheritance) कहते हैं।

सामान्य निर्बल अनुवृत्ति

इस प्रकार की अनुवृत्ति को पारिवारिक इतिहास से पहचान सकना बहुत कठिन होता है, क्योंकि इस प्रकार की अनुवृत्ति के प्रकट होने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि अनुवृत्त होने वाला निर्बल गुण या दोष माता-पिता दोनों के अन्दर विद्यमान हो। ऐसे माता-पिता बाह्यतः देखने में तो स्वाभाविक स्वस्थ (प्राकृत) प्रतीत होते हैं परन्तु प्रच्छन्न रूप में इनमें गुणसंकर के वाहन की विशेषता रहती है। इनके समागम द्वारा सन्तति में माता-पिता दोनों का प्रच्छन्न निर्बल गुण प्रकट रूप से अनुवृत्त होता है। अब, मैण्डेल के अनुवृत्ति-सूत्र के अनुसार (सबल-निर्बल) × (सबल-निर्बल) = सनि × सनि = सस, सनि, सनि, निनि। इनमें से अन्तिम (अर्थात् निनि), अर्थात् माता-पिता दोनों से निर्बल गुण दोष की अनुवृत्ति लेने वाली, सन्तान में ही इस वर्ग की अनुवृत्ति वाला विकार पाया जाता है; और सबल (नार्मल) अनुवृत्ति वाली ७५% सन्तान के मुकाबले में इस निर्बल अनुवृत्ति वाली २५% सन्तान को ढूंढ निकालना आसान नहीं होता। पुनः, इस प्रकार की सन्तान भी तभी उत्पन्न होती है, जबकि प्रच्छन्न प्रसुप्त निर्बल गुण माता-पिता दोनों में ही विद्यमान हो ऐसा भी कभी-ही-कभी सम्भव होता है, अकस्मात् ही। इस प्रकरण में यह अवधेय

है कि 'विकार' के मुकाबले में 'सामान्यता' (normalcy) अर्थात् 'स्वस्थता' सदैव सबल या प्रबल होती है। और, ऐसा होना जीवन के लिए बड़ा उपकारी है, क्योंकि इस प्रकार से निर्बल गुण के विरोध में एक प्रकार का अभयदान शरीर या जीवन को मिल जाता है। उदाहरणार्थ—घातकगुण से युक्त उत्पादकाणु का संयोग यदि सामान्य (नार्मल, सबल) गुणयुक्त उत्पादकाणु के साथ हो जावे (जैसा कि प्रायः होता रहता है) तो इस सबल सामान्य के सहारे वह सन्तान जीवित बनी रहती है और उसे पता भी नहीं चलता कि वह वस्तुतः उत्पादन की दृष्टि से अर्द्धमृत है। अब, विकार का यह रूप सामान्य युग्मों (समगुण युग्मों) के संयोग के द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलता जाता है; और अचानक इस अनुवृत्त निर्बल गुण-दोष से युक्त सन्तान का समागम जब ऐसे ही अनुवृत्त निर्बल गुण से युक्त साथी के साथ होता है (जिस अवस्था को विषमगुण युग्म या विषमबीज, 'heterozygotes' कहते हैं) तो वही प्रच्छन्न निर्बल गुण-दोष उसकी सन्तान (सूत्रानुसार २५%) में अनुवृत्त हो जाता है।

ऐसी घटना प्रायः तभी घटित होती है, जब ऐसे दोनों साथी (पति-पत्नी) एक ही परिवार, वंश या बिरादरी के हों, क्योंकि उस अवस्था में उन दोनों साथियों (पति-पत्नी) में पैत्रिक प्रच्छन्न निर्बल गुण अवश्यमेव सीधे आए पड़े होते हैं। इस प्रकार के विवाह को सगोत्र-सपिण्ड कहते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सगोत्र या सपिण्ड विवाह से पैत्रिक दोषों की अभिवृद्धि होती है, क्योंकि तब पति-पत्नी दोनों समदोषी होने के कारण उनकी सन्तति में उक्त दोषों की अनुवृत्ति हुआ करती है। इसीलिए हिन्दू-धर्म में सगोत्र-सपिण्ड विवाहों (consanguineous marriages) का इतनी कठोरता से निषेध किया गया है।

दुहिता दूरे हिता भवति

यद्यपि 'सामान्य निर्बल अनुवृत्ति' को पहचान सकना बड़ा कठिन होता है, ऐसा हम ऊपर बता आए हैं, परन्तु ऐसी अनुवृत्ति कहीं निकल न आवे इसका विवाह के पूर्व विचार रखने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि सगोत्र-सपिण्ड विवाह से सर्वथा बचा जाए। इसीलिए शास्त्रकारों ने 'दुहिता' अर्थात् कन्या के बारे में बल-पूर्वक कहा है कि उसे जितनी दूर के कुल-परिवार-वंश या बिरादरी में विवाहा जाए उतना अच्छा (दुहिता दूरे हिता इति, दूरे हिता दत्ताहिसा हिता भवति)।

रोग-परिहार भी आवश्यक

सगोत्र-सपिण्ड विवाहों का निषेध इतने बलपूर्वक इसीलिए किया गया कि माता-पिता के वंश-परम्परा से चले आ रहे एक-सदृश प्रच्छन्न-प्रसुप्त निर्बल गुण-दोष

इस रूप में आ मिलने और प्रबल प्रबुद्ध होकर सन्तति में अनुवृत्त होने से रोके जा सकें। सन्तति को उनसे बचाना आवश्यक धर्म है। इसी दृष्टि से रोगों का परिहार भी आवश्यक है, विशेषतया 'संचारी' या 'अनुवर्तनशील' (inheritable) रोगों का। यही कारण है कि आयुर्वेद में इस पर बड़ा बल दिया गया है कि न तो कन्या की प्रकृति रोगात्मक (वैकृत प्रकृति, pathological disposition) हो, न उसके कुल में संचारी रोग हों और न ही कन्या के अंग हीन अथवा अधिक हों[1]। इसीलिए रोमशता-अर्शोरोग, क्षय, अग्निमान्ध, आमरोग, अपस्मार, श्वित्र-कुष्ठरोग आदि से युक्त एवं सदारोगी कुलों में विवाह न करने का आदेश मनुस्मृति ने दिया है[2]। और इसीलिए कन्या में भी निम्नलिखित दोष न होने का ध्यान रखने के लिए मनुस्मृति ने व्याख्यान किया है—कपिलकेशी, छह अंगुलि आदि अधिकांग वाली रोगिणी, अलोमिका, अतिलोमिका, पिंगलावर्ण, वाचाला, अतिस्थूला, अतिकृशा, दीर्घा, अतिवामना, हीनांगी, कलहप्रिया तथा अपने से वय में बड़ी[3]।

धर्मशास्त्रों की वैज्ञानिकता

ऊपर हमने देखा कि विवाह में सगोत्रता-सपिण्डता एवं रोगादि का परिहार करने के लिए कितने बलपूर्वक आदेश मनुस्मृति आदि स्मृतियों में दिए गए हैं। ये स्मृति आदि हैं तो धर्मशास्त्र और इनका प्रयोजन धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था है, परन्तु इनके इन आदेशों में छिपी विशुद्ध वैज्ञानिकता भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस सन्दर्भ में तो ये सुप्रजननशास्त्र (Fngenics) एवं जननविज्ञान (Genetics) के नवीनतम वैज्ञानिक ग्रन्थों से भी बाजी मार ले गए प्रतीत होते है। व्यावहारिकता धार्मिकता एवं वैज्ञानिकता का कितना सुन्दर समानुपाती सम्मिश्रण है इनमें। अद्‌भुत एवं अत्यन्त प्रशंसनीय ! धन्य थे हमारे धर्मशास्त्री ऋषि-मुनि ! !

---

1 'अथ खलु पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यामसंचारिरोगकुलप्रसूतामरोगप्रकृतिमहीनाधिकांगां विधिनोद्वहेत'। (अष्टांगसंग्रह। शारीर अ० १)

2 'रोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ (परिवर्जयेत्)।' (मनु० ३.७)

3 'नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिंगलां। नातिस्थूलां नातिकृशां न दीर्घांनातिवामनाम्। वयोधिकां नांगहीनां न सेवेत्कलहप्रियाम्।' (मनु० ३.८,९)

हमारे संक्षिप्त समाचार



कैलेफोर्निया के स्टेट कालिज हेवर्ड में भारतीय भाषाओं के प्राध्यापक तथा 'एशिया' पत्रिका के समीक्षा संपादक श्री वेद प्रकाश बटुक एक गोष्ठी में विचार प्रकट करते हुए। उनके पास साहित्यकार संघ के संरक्षक, हिन्दी उपन्यासकार श्री गुरुदत्त तथा गजानन्द एडवोकेट बैठे हैं।



डा. प्रभाकर माचवे का भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से सम्मान किया गया। इस अवसर पर संघ के विद्वानों ने डा. माचवे की हिन्दी-सेवाओं और सांस्कृतिक भावनाओं की सराहना की। डा. रामदत्त भारद्वाज डा. माचवे के सम्बन्ध में विचार प्रकट रहे हैं। उनके पास डा. महोदय तथा प्रो. वेद प्रकाश बटुक (कैलेफोर्निया) बैठे हैं।



सन् १८५७ के हुतात्माओं की स्मृति में आयोजित कवि-गोष्ठी।

१. आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन को भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से माल्यार्पण करते हुए श्री मोहन लाल श्रीवास्तव। उनके साथ केन्द्रिय कार्य समिति के सदस्य तथा गोष्ठी के संयोजक कवि श्री कृष्ण मित्र।

२. कवियों को सम्बोधित करते हुए दिल्ली के प्रसिद्ध पत्रकार तथा भारतीय साहित्यकार संघ के महामंत्री श्री क्षितीश वेदालंकार।

पाठकों की लेखनी से

भारतीय साहित्यकार संघ की मुख पत्रिका 'श्रेय' का अंक देखा। धन्यवाद। हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए इस प्रकार के प्रकाशनों की आज के युग में बड़ी आवश्यकता है और यह पत्रिका निश्चय ही एक अभाव की पूर्ति करतीं है।

पत्रिका के उज्ज्वलतर भविष्य के लिए मेरी शुभ कामनाएं।

नगेन्द्र (डा०, प्रो०)
(हिन्दी विभाग)
दिल्ली विश्व विद्यालय

मैंने 'भारतीय साहित्यार संघ' की ओर से प्रकाशित होने वाली 'श्रेय' पत्रिका के चारों अंक देखे हैं। सभी अंकों की सामग्री उदात्त और परिष्कृत भावों से परिपूर्ण है। इसका 'वीर बन्दा वैरागी विशेषांक' अपनी प्रेरक और उद्‌बोधक सामग्री के कारण अत्यन्त उपादेय तथा संग्रहणीय बन पड़ा है। इसके सम्पादकों की दृष्टि उदार तथा व्यापक है, इसी कारण 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार उन्हें पग-पग पर कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ रहा है, लेकिन 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के पुनीत आदर्श को सामने रखकर वे अपने उद्दिष्ट पथ पर निःशंक भाव से बढ़े जा रहे हैं। आशा है उनकी यह भावना उन्हें अपने उद्देश्य की सिद्धि में अवश्य सफल करेगी।

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

स्वीयायाः पत्रिकायाः स्तरमपेक्ष्यातीव हर्षो मनसि संजातः। तदर्थं च साधुवादं स्वीकुर्वन्तु भवन्तः।

रामनाथ 'सुमन'
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
धौलाना (मेरठ)

'श्रेय' पत्रिका का अंक देखने को मिला। निःसन्देह पत्रिका अपने लक्ष्य में सफल हुई है। पत्रिका में प्रकाशित लेख और लेखकों के स्तर देखकर विश्वास होता है कि पत्रिका निःसन्देह साहित्य क्षेत्र में अपना स्थान बनाएगी।

त्रिलोक चन्द गुप्त,
इतिहास प्राध्यापक, महेन्द्रगढ़।

'श्रेय' पत्रिका की प्रतिया सभी कालिजों और विश्वविद्यालयों में गई हैं। और प्रशसाभरी बधाइयां प्राप्त हुई हैं। अगला अंक इससे भी बढ़िया निकल रहा है। देश के प्रमुख व्यक्तियों ने इसकी सराहना की है और सहयोग का वचन दिया है।

मुरारी राजीव
(भूतपूर्व महामंत्री)

(अपने मित्र को लिखे पत्र से उद्धत)

भारत के समाचार पत्र-रजिस्ट्रार द्वारा पंजीकृत
पं० सं० (रजि० नं०) १६७७२/७०

भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से श्री राजपाल शास्त्री द्वारा
नाथ प्रिंटिंग प्रेस, बसई दारापुर, दिल्ली में मुद्रित तथा
७/२०८, रमेश नगर से प्रकाशित।